वार्षिक रु. ५०/-
मूल्य रु. ६.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४४ अंक १० अक्तूबर २००६ मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. वैराग्य-शतकम् (भर्तृहरि) ४५३
२. दुर्गा-सरस्वती-वन्दना ('विदेह') ४५४
३. हमारा राष्ट्रीय वैशिष्ट्य (स्वामी विवेकानन्द) ४५५
४. श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (९/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ४५७
५. चिन्तन-१२८ (विद्या और विनय) (स्वामी आत्मानन्द) ४६२
६. श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ ४६३
७. नारद-भक्ति सूत्र (४) (स्वामी भूतेशानन्द) ४६५
८. आत्माराम की आत्मकथा (३१) ४६७
९. जीव ही शिव (कविता) (जितेन्द्र कुमार तिवारी) ४७१
१०. ईशावास्योपनिषद् (३) (स्वामी सत्यरूपानन्द) ४७२
११. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) ४७४
१२. गीता का जीवन-दर्शन (१०) दैवी सम्पदाएँ (६) यज्ञ (भैरवदत्त उपाध्याय) ४७५
१३. स्वामी विवेकानन्द और राजस्थान (२२) (अमेरिका जाने का संकल्प) ४७९
१४. वाराणसी में विवेकानन्द (३) (स्वामी सदाशिवानन्द) ४८३
१५. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर) ४८६
१६. माँ की मधुर स्मृतियाँ - ३५ माँ श्री सारदादेवी - १० ४८७
१७. उपहारों के साथ बुरे इरादे आते हैं (श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम) ४९०
१८. श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद (श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म') ४९१

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर – १३, ०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन : बाढ़ राहत कार्य

संक्षिप्त विवरणी

आन्ध्र प्रदेश, गुजरात तथा महाराष्ट्र में आयी अभूतपूर्व बाढ़ से पीड़ित हजारों लोगों के बीच पकाया हुआ भोजन, सूखी खाद्य-सामग्री तथा राशन आदि आदि के माध्यम से रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन ने निम्नलिखित स्थानों पर प्राथमिक राहत कार्य शुरू किया है।

आन्ध्र प्रदेश : पूर्व गोदावरी जिले में मुमडीवरम् (अमलापुरम् के पास)

गुजरात : सूरत तथा आनन्द जिले के १८ गाँव और बड़ोदरा जिले के अकोला तथा जेतालपुर गाँव

महाराष्ट्र : नांदेड़, बुलढाना तथा थाना जिले और पूना का फुलवाड़ी स्थान

बाढ़-पीड़ितों के बीच चिकित्सा-सेवा प्रारम्भ करने की तैयारी हो रही है। इसके अतिरिक्त बाढ़-राहत-कार्य को अन्य क्षतिग्रस्त स्थानों पर भी विस्तारित करने चेष्टा हो रही है। आगे के समाचार की प्रतीक्षा है।

इस राहत-कार्य के लिये प्रदत्त नगद धनराशि अथवा 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से प्रदत्त चेक/ड्राफ्ट भारतीय आयकर नियम की ८०-जी धारा के अनुसार आयकर से मुक्त है। सभी प्रकार के दान भेजने का पता -

महासचिव, रामकृष्ण मिशन (प्रधान कार्यालय)
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा - ७११ २०२
Fax : (033) 2654 9885, E-mail : rkmrelief@vsnl.net

दिनांक : ११.८.२००६

(स्वामी स्मरणानन्द)
महासचिव

वैराग्य-शतकम्

चेतश्चिन्तय मा रमां सकृदिमामस्थायिनीमास्थया
भूपालभ्रुकुटीविहरणव्यापारपण्याङ्गनाम् ।
कन्थाकञ्चुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी-
रथ्यापंक्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे ।।६५ ।।

अन्वय – चेतः, अस्थायिनीं भूपाल-भ्रुकुटी-कुटी विहरण-व्यापार-पण्य-अङ्गनाम् इमां रमाम् आस्थया सकृत् मा चिन्तय, कन्था-कञ्चुकिनः वाराणसी-रथ्या-पंक्तिषु भवन-द्वाराणि प्रविश्य पाणि-पात्र-पतितां भिक्षाम् अपेक्षामहे ।

अर्थ – हे चित्त ! राजाओं की भृकुटि-कुटीर (कृपादृष्टि) में निवास करनेवाली, गणिका के समान चंचल-स्वभाव धन-सम्पदा की तुम कभी आदरपूर्वक कामना मत करना। बल्कि हम तो शरीर पर अपनी जीर्ण कन्था को ओढ़े पवित्र वाराणसी की गलियों में द्वारों पर खड़े होकर कररूपी पात्र में मिल जानेवाले भिक्षा से ही सन्तुष्ट रहेंगे ।

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्वेवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ।।६६।।

अन्वय – चेतः, अग्रे गीतं पार्श्वयोः दाक्षिणात्याः सरस-कवयः, पश्चात् चामर-ग्राहिणीनां लीला-वलय-रणितं यदि एवं अस्तु भव-रस-आस्वादने लम्पटत्वं कुरु, नो चेत् सहसा निर्विकल्पे समाधौ प्रविश ।।

अर्थ – हे चित्त ! यदि सामने गायकों का मधुर संगीत हो और दोनों तरफ दक्षिण देश से आये हुए सरस कवियों की स्तुति हो रही हो और पीछे चामरधारिणी सुन्दर नारियों के विलासपूर्ण हाव-भाव के साथ कंगनों की झंकार हो, यदि यह सब उपलब्ध हो तब तो हे चित्त, संसार-रस के आस्वादन में लोलुपता दिखा और यदि न हो, तो तत्काल निर्विकल्प समाधि में प्रवेश कर ।

– भर्तृहरि

दुर्गा-वन्दना

– १ –

(राग भैरवी– ताल कहरवा)

करुणा कर माँ सिंहवाहिनी ।
दुःख-दोष-भय-ताप-दाहिनी ।।

सेना विकट कामनाओं की,
युद्ध कर रहा मैं एकाकी,
जननी, इन भीषण असुरों का
कर विनाश शोणित-प्रवाहिनी ।।

अन्तर मेरा निर्मल कर दे,
श्रद्धा-ज्ञान-भक्ति से भर दे,
जीवन को कृतकृत्य बना दे,
शरणागत को सतत पाहिनी ।।

– २ –

सरस्वती-वन्दना

(राग बहार– ताल कहरवा)

वीणापाणि मरालवाहिनी ।
कर सुखमय आलोकित जग को,
दुःख-मोह-सन्ताप-हारिणी ।।

शुभ्र वसन कर, धारण तन पर,
आसीना शुचि श्वेत कमल पर,
छेड़ रही संगीत मधुर तुम,
अखिल चराचर चित्त-हारिणी ।।

बैठो चित्त हंस पर मेरे,
तोड़ो घोर तमस के फेरे,
पार लगा दो भव-सागर से,
चिर 'विदेह' आह्लाद-कारिणी ।।

– *विदेह*

हमारा राष्ट्रीय वैशिष्ट्य

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का क्या अर्थ है?

उत्तर – हर मनुष्य में कोई-न-कोई विशेषता होती है, हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न मार्गों से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके पिछले असंख्य जीवनों के कर्मों द्वारा एक निश्चित मार्ग से चलता है। चूँकि अतीत काल के कर्मों की समष्टि ही वर्तमान में प्रकट होती है और वर्तमान समय में हम जो कर्म कर रहे हैं, उसी के अनुसार हमारा भावी जीवन गठित हो रहा है, इसलिये देखने में आता है कि इस संसार में जो कोई आता है, उसका एक-न-एक ओर विशेष झुकाव होता है, उस ओर मानो उसे जाना ही होगा, मानो उस भाव का अवलम्बन किये बिना वह जी ही नहीं सकता। यह बात जैसे व्यक्ति के लिये सत्य है, वैसे ही हर राष्ट्र का भी किसी-न-किसी तरफ विशेष झुकाव होता है। मानो प्रत्येक राष्ट्र का एक-एक विशेष जीवनोद्देश्य हुआ करता है।[२२]

लक्ष्य-प्राप्ति हेतु हर राष्ट्र की अपनी विशेष कार्य-प्रणाली है। कोई राजनीति, कोई समाज-सुधार, तो कोई किसी अन्य विषय को अपना मूल आधार बनाकर चलता है। हमारे लिये धर्म की पृष्ठभूमि लेकर कार्य करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं। अँग्रेज राजनीति के माध्यम से धर्म भी समझ सकते हैं, अमरीकी शायद समाज-सुधार के माध्यम से धर्म समझें, परन्तु हिन्दू राजनीति, समाज-विज्ञान और बाकी सब कुछ केवल धर्म के माध्यम से ही समझ सकते हैं। राष्ट्रीय जीवन-संगीत का मानो यही प्रधान स्वर है।[२३]

प्रत्येक मनुष्य में एक भाव विद्यमान रहता है, बाह्य मनुष्य उसी भाव का भाषा में प्रकाश मात्र रहता है। उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में एक राष्ट्रीय भाव है। यह भाव जगत् के लिये कार्य करता है, यह संसार की स्थिति के लिये जरूरी है। जिस दिन इसकी जरूरत नहीं रहेगी, उसी दिन उस राष्ट्र अथवा व्यक्ति का नाश हो जायेगा। इतने दुःख-दारिद्र्य में भी बाहर के आघात सहकर भी हम भारतवासी बचे हैं, इसका अर्थ यही है कि हमारा एक राष्ट्रीय भाव है, जो इस समय भी जगत् के लिये आवश्यक है। यूरोपियनों में भी उसी प्रकार एक राष्ट्रीय भाव है, जिसके न होने से संसार का काम नहीं चलेगा। इसीलिये आज वे इतने प्रबल हैं।[२४]

तुम लोगों ने अपनी बाल्यावस्था में वह कथा सुनी होगी – एक राक्षसी का प्राण एक पक्षी में था। उस पक्षी का नाश हुये बिना उस राक्षसी का किसी भी प्रकार नाश नहीं हो सकता था। यह भी ठीक वैसा ही है। तुम देखोगे कि जो अधिकार राष्ट्रीय जीवन के लिये सर्वथा आवश्यक नहीं हैं, उनके नष्ट हो जाने से यह जाति कोई आपत्ति नहीं करेगी। परन्तु जब यथार्थ राष्ट्रीय जीवन पर आघात होता है, तब यह बड़े वेग से प्रतिघात करती है।

फ्रांसीसी, अंग्रेज और हिन्दू – इन तीन वर्तमान जातियों का इतिहास तुम थोड़ा-बहुत जानते हो। इनकी जरा तुलना करो। राजनीतिक स्वाधीनता फ्रांसीसी राष्ट्रीय चरित्र का मेरुदण्ड है। वहाँ की प्रजा सब अत्याचारों को शान्त भाव से सहन करती है। उसे करों के भार से पीस डालो, फिर भी वह चूँ तक न करेगी। सारे देश को जबरन सेना में भर्ती कर डालो, पर कोई आपत्ति न होगी। परन्तु जब कोई उनकी स्वाधीनता में हस्तक्षेप करता है, तब सारी जाति पागलों की भाँति प्रतिघात करने को तत्पर हो जाती है। कोई व्यक्ति किसी पर जबदस्ती अपना हुक्म नहीं चला सकता, यही फ्रांसीसियों के चरित्र का मूलमंत्र है। ज्ञानी, मूर्ख, धनी, दरिद्र उच्च-वंशीय, नीच-वंशज – सभी को राज्य के शासन और सामाजिक स्वाधीनता में समान अधिकार है। इसके ऊपर हाथ डालनेवाले को इसका फल भोगना ही पड़ेगा।

अंग्रेजों के चरित्र में व्यवसाय-बुद्धि तथा आदान-प्रदान की प्रधानता है। उनकी मूल विशेषता है – समान भाग, न्यायसंगत विभाजन। अंग्रेज, राजा और कुलीन जाति के अधिकार को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु यदि गाँठ से पैसा निकालना हो तो वे हिसाब माँगते हैं। राजा है तो अच्छी बात है, लोग उसका आदर करेंगे, पर राजा यदि रुपया चाहे, तो उसकी आवश्यकता और उद्देश्य के बारे में हिसाब-किताब समझा जायेगा, तब कहीं देने की बारी आयेगी। राजा के प्रजा से बलपूर्वक रुपये एकत्र करने के कारण वहाँ विप्लव खड़ा हो गया, उन लोगों ने राजा को मार डाला। हिन्दू कहते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता बड़ी अच्छी चीज है, पर वास्तविक चीज आध्यात्मिक स्वाधीनता अर्थात् मुक्ति

है। यही राष्ट्रीय जीवन का उद्देश्य है। वैदिक, जैन, बौद्ध, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सभी इस सम्बन्ध में एकमत हैं। इसमें हाथ न लगाना – नहीं तो सर्वनाश हो जायेगा। इसे छोड़कर और चाहे जो कुछ करो, हिन्दू चुप रहेंगे।[२५]

एक समय था, जब यूनानी सेना के रण-प्रयाण के दर्प से संसार काँप उठता था। पर आज वह कहाँ है? आज उसका चिह्न तक कहीं दिखाई नहीं देता। यूनान देश का गौरव आज अस्त हो गया है। एक समय था, जब जगत की हर भोग्य वस्तु पर रोम की गरुड़ांकित विजय-पताका फहराया करती था, रोमन लोग सर्वत्र जाते और मानव-जाति पर प्रभुत्व प्राप्त करते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी काँप उठती थी, पर आज उसी रोम का कैपिटोलाइन पहाड़* भग्नावशेष का एक ढूह मात्र है। जहाँ सीजर राज्य करता था, वहाँ आज मकड़ी जाल बुनती है। इसी प्रकार ऐसे ही कितने वैभवशाली राष्ट्र उठे और गिरे। कुछ काल तक विजयोल्लास और भावावेशपूर्ण प्रभुत्व का कलुषित राष्ट्रीय जीवन बिताकर सागर की तरंगों की भाँति उठकर फिर मिट गये। इसी प्रकार ये सब राष्ट्र मनुष्य-समाज पर किसी समय अपना चिह्न अंकित कर अब मिट गये हैं, परन्तु हम लोग आज भी जीवित हैं। आज यदि मनु इस भारतभूमि पर लौट आयें, तो उन्हें कुछ भी आश्चर्य न होगा, वे ऐसा नहीं समझेंगे कि कहाँ आ पहुँचे?[२६]

प्रश्न – सामाजिक जीवन का क्या आधार है?

उत्तर – संसार में सामाजिक जीवन की बुनियाद डालने के लिये दो तरह से यत्न किये गये – एक तो धर्म के सहारे और दूसरा सामाजिक प्रयोजन के सहारे। एक आध्यात्मिकता पर आधारित था और दूसरा भौतिकवाद पर। एक की भित्ति अतीन्द्रियवाद है, दूसरे की प्रत्यक्षवाद। पहला इस क्षुद्र जड़-जगत् की सीमा के बाहर दृष्टिपात करता है, बल्कि वह दूसरे के साथ कुछ सम्पर्क न रखकर केवल आध्यात्मिक भाव के सहारे जीवन बिताने का साहस करता है। इसके विपरीत दूसरा सांसारिक वस्तुओं के बीच ही अपने को सन्तुष्ट मानता है और आशा करता है कि वहीं उसे जीवन का दृढ़ आधार मिल सकेगा। यह एक मनोरंजक बात है कि इसमें तरंगों के समान आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का उत्थान-पतन-क्रम चलता रहता है। एक ही देश में विभिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न तरंगें दिखाई देती हैं। एक समय ऐसा होता है, जब भौतिकवादी भावों की बाढ़ अपना आधिपत्य जमा लेती है और जीवन की प्रत्येक चीज – जिससे आर्थिक अभ्युदय हो, अथवा ऐसी शिक्षा जिसके द्वारा हमें अधिकाधिक धन-धान्य और भोग प्राप्त हो सकें – पहले बड़ी महिमामयी प्रतीत होती है, पर कुछ काल बाद वह महत्त्व खोकर नष्ट हो जाती है। भौतिक अभ्युदय के साथ मानव जाति के अन्तर्निहित पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्याभाव भी प्रबल आकार धारण कर लेते हैं। फल यह होता है कि प्रतिद्वन्दिता तथा घोर निर्दयता मानो उस समय के मूलमंत्र बन जाते हैं। एक आम अंग्रेजी कहावत है – 'Every one for himself and the devil takes the hind most' अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने लिये ही सोचता है और जो बेचारा सबसे पीछे रह जाता है, उसे शैतान पकड़ ले जाता है – बस यही कहावत सिद्धान्त-वाक्य बन जाती है। तब लोग सोचते हैं कि उनकी पूरी जीवन-पद्धति तो नितान्त असफल हो गयी है और यदि धर्म ने उनकी रक्षा न की, डूबते हुए जगत् को सहारा न दिया, तो संसार का ध्वंस अवश्यम्भावी है। तब संसार को एक नयी आशा की किरण मिलती है, एक नयी इमारत खड़ी करने के लिये नयी नींव मिलती है और आध्यात्मिकता की एक दूसरी लहर आती है, जो कालधर्म के अनुसार धीरे-धीरे दब जाती है। प्रकृति का यह नियम है कि धर्म के अभ्युत्थान के साथ व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग का उदय होता है जो इस बात का दावा करता है कि वह संसार की कुछ विशेष शक्तियों का अधिकारी है। इसका परिणाम होता है – पुन: भौतिकवाद की ओर प्रतिक्रिया। और यह प्रतिक्रिया एकाधिकार के स्रोतों को खोल देती है, फिर अन्तत: ऐसा समय आता है जब समग्र जाति की केवल आध्यात्मिक क्षमतायें ही नहीं, वरन उसके सब प्रकार के लौकिक अधिकार एवं सुविधाएँ भी कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाती हैं। बस पुन: थोड़े से लोग जनता की गर्दन पकड़कर उन पर अपना शासन जमाने की चेष्टा करते हैं। उस समय जनता को स्वयं अपना आश्रय ढूँढ़ना पड़ता है। वह भौतिकवाद का सहारा लेती है।[२७]

घृणा की अपेक्षा प्रेम के द्वारा ही राष्ट्रीय जीवन स्थायी हो सकता है। पशुत्व तथा शारीरिक शक्ति नहीं, अपितु क्षमा तथा नम्रता ही संसार-संग्राम में विजयी बना सकती है।[२८]

यदि हम मनु की सच्ची सन्तान हैं, तो हमें उनके आदेशों का पालन करना होगा और जो कोई हमें शिक्षा देने के योग्य है, उससे ऐहिक या पारमार्थिक विषयों में शिक्षा लेने के लिये सदा तैयार रहना होगा। पर साथ ही हम यह भी न भूलें कि संसार को हम भी कोई विशेष शिक्षा दे सकते हैं।[२९]

भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर एक भाव दिख रहा है कि विभिन्न मतवाद क्रमश: अधिकाधिक उदार होते हुये उसी शाश्वत एकत्व की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस कारण आज के सभी आन्दोलन जाने-अनजाने सर्वोत्तम आविष्कृत एकत्ववादी दर्शन अर्थात् अद्वैत वेदान्त के प्रतिरूप हैं।[३०]

शेष अगले पृष्ठ पर

* केपिटोलाइन पहाड़ – रोम नगर सात पहाड़ों पर बसा हुआ था। उनमें जिस पर रोमवासियों के कुलदेवता जुपिटर का विशाल मन्दिर था, उसी को कैपिटोलाइन पहाड़ कहते हैं। जुपिटर देवता के मन्दिर का नाम था कैपिटोल, जिससे उस पहाड़ का नाम कैपिटोलाइन पड़ा।

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (९/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

परशुरामजी की अपनी अलग आँखें हैं। वे बड़े सुन्दर हैं। गौर वर्ण के हैं। नेत्र बड़े विशाल हैं। बड़ा दिव्य रूप है। विशाल मस्तक पर त्रिपुण्ड है। उनका मुख चन्द्रमा की तरह है, पर वह चन्द्रमुख क्रोध से लाल हो गया है –

गौरि सरीर भूति भल भ्राजा ।
भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ।।
रिस बस कछुक अरुन होइ आवा ।। १/२६८/४-५

सुन्दर हैं, पर लाल। क्रोध में भरे हुए हैं। नेत्र कितने भी विशाल हों, पर देखनेवाली बात बड़ी अटपटी है। जब किसी के प्रणाम के बाद उसको आशीर्वाद देने के लिए देख लेते थे, तो वह बेचारा बेहोश होने लगता था। – क्यों? बोले – देख रहे हैं, तो मारे बिना नहीं छोड़ेंगे –

जेहि सुभायँ चितवहिं हितु जानी ।
सो जानइ जनु आइ खुटानी ।। १/२६९/३

तो परशुराम जी सुन्दर हैं, उनके नेत्र बड़े हैं, लेकिन उनको देखकर आतंक और भय उत्पन्न होता है।

इधर विश्वामित्रजी भी बड़े दिव्य महापुरुष है। भगवान श्रीराम को व्यक्त संसार में लाने का महान् श्रेय उन्हीं को है। विश्वामित्रजी ने सोचा – लोग जिस आतंक से पीड़ित हैं, उसकी दवा तो मेरे पास है। वे श्रीराम और लक्ष्मणजी को साथ लेकर गये। विश्वामित्रजी और परशुरामजी आपस में सम्बन्धी भी हैं, परस्पर बड़ा प्रेम है। विश्वामित्रजी को देखकर परशुरामजी उनसे गले मिले और फिर विश्वामित्रजी के आदेश पर श्रीराम और लक्ष्मण भी परशुरामजी के चरणों में दण्डवत प्रणाम करते हैं –

बिस्वामित्रु मिले पुनि आई ।
पद सरोज मेले दोउ भाई ।। १/२६९/६

विश्वामित्र से पूछा – ये कौन हैं? उत्तर मिला – महाराज दशरथ के पुत्र है। आशीर्वाद दे दिया – बहुत अच्छे, दोनों बालकों की जोड़ी तो बड़ी अच्छी है। मैं आशीर्वाद देता हूँ –

रामु लखनु दरसथ के ढोटा ।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा ।। १/२६९/४

बड़ा अन्तर आ गया? जिन आँखों से इतना भय व्याप्त हो रहा था, जब वे श्रीराम और लक्ष्मण को देखने लगीं, तो आँखें तो उतनी ही बड़ी है, लेकिन एक अन्तर आ गया – उन्हें लगा कि दोनों भाइयों की जोड़ी तो बहुत सुन्दर है। ऐसे सुन्दर दो भाई एक साथ मैंने कभी देखे ही नहीं।

इस पर महाराज जनक बड़े आनन्दित हुए – यह तो बड़ा अच्छा हुआ, इस समय आशीर्वाद दे रहे हैं। श्रीराम-लक्ष्मण को आशीर्वाद दे दिया, क्यों न पुत्री सीता को भी बुलाकर आशीर्वाद दिला लें? उन्होंने सीताजी की सखियों से कहा – पुत्री सीता को ले जाकर परशुरामजी के चरणों में प्रणाम कराओ। सखियाँ सीताजी को लेकर आती हैं।

सीय बोलाइ प्रनामु करावा ।। १/२६९/४

परशुरामजी ने उनको भी आशीर्वाद दिया। और जब उन्होंने आशीर्वाद दे दिया, तो सखियाँ प्रसन्न हो गईं –

आसिष दीन्हि सखीं हरषानीं ।। १/२६९/५

वे आशीर्वाद देते हैं – अखण्ड सौभाग्यवती होओ। पर उन्हें क्या पता था कि वह आशीर्वाद ही उनके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। यद्यपि जिसके प्रति वे बाद में क्रुद्ध हुए, वे स्वयं में ही अखण्ड थे। पर नियम तो यही है कि किसी भी विवाहिता कन्या को आशीर्वाद देंगे, तो यही कहेंगे कि तुम्हारा सौभाग्य अखण्ड रहे। सखियाँ बड़ी प्रसन्न हो गईं।

अब गोस्वामीजी एक बड़ा सुन्दर सूत्र देते हैं – नेत्रों से देखना नहीं, बल्कि नेत्र भरकर देखना। इसका क्या अर्थ है? नेत्र के एक कोने से हमने देखा और उसमें सौन्दर्य को स्थान दे दिया, पर नेत्र में यदि अन्य भाव भी भरे हुए हैं, तो अभी

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक हित का एक ही आधार है और वह है यह जानना कि 'मैं और मेरा भाई एक हैं।' यही सब देशों और सब जातियों के लिये सत्य है।[३१]

सन्दर्भ-सूची –

२२. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. ८; **२३**. वही, खण्ड ५, पृ. २०८; **२४**. वही, खण्ड १०, पृ. ४८-४९; **२५**. वही, खण्ड १०, पृ. ५८-५९; **२६**. वही, खण्ड ५, पृ. ६-७; **२७**. वही, खण्ड ५, पृ. ५३-५४; **२८**. वही, खण्ड ५, पृ. ८४; **२९**. वही, खण्ड ५, पृ. १६६; **३०**. वही, खण्ड ४, पृ. ३३५; **३१**. वही, खण्ड ५, पृ. ४४;

❖ (क्रमशः) ❖

एक भाव आया, तो बाद में दूसरे भाव आ जायेंगे।

देखहु रामहि नयन भरि । १/२६६

परशुरामजी ने देखा, पर नैन भरकर नहीं देखा। भले राजाओं ने बुरे राजाओं से यही कहा – अपने नेत्र के कोने से मत देखो, पूरे नेत्रों में इनके सौन्दर्य को भर लो। परशुरामजी की समस्या यह थी कि उन्होंने श्रीराम को देखा, तो आनन्द आया, पर उनके नेत्र में दूसरा भाव भी विद्यमान था और वह भाव आगे प्रगट हो गया –

रामहि चितइ रहे थकि लोचन ।
रूप अपार मार मद मोचन ।। १/२६९/८

रहीम से पूछा गया – भक्त लोग 'भरि लोचन' क्यों कहते हैं? तो उन्होंने कहा – मान लो कोई धर्मशाला है, जिसमें यात्री आते-जाते रहते हैं। तो संसार में जितने व्यक्ति हैं, उनकी आँखें धर्मशाले की तरह है, उनमें यात्री आते-जाते रहते हैं। आज एक आया, कल दूसरा आया, परसों तीसरा आया। अब यदि कोई व्यक्ति ऐसे समय में पहुँचे, जब धर्मशाला भरा हुआ हो, तो उसको उत्तर मिलेगा कि जगह नहीं है। तो रहीम कवि ने कहा कि भक्त लोग जब भगवान का सौन्दर्य देखते हैं, तो उससे अपने नेत्ररूपी सराय या धर्मशाले को भर लेते हैं और जब धर्मशाले में स्थान ही नहीं होगा, तो अन्य पथिक अपने आप ही लौट जायेंगे –

प्रियतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय ।
रहिमन भरी सराय लखि, पथिक आप फिर जाय ।।

नेत्रों में भगवान का सौन्दर्य भर जाने के बाद, सराय को भरी देखकर, संसार का सौन्दर्य अपने आप लौट जायेगा। इसलिए भक्तों ने इन बातों को लेकर काव्यमयी भाषा में जो बात कही, उसका संकेत बड़ा मधुर है। काजल बड़ा उपयोगी माना जाता है। किसी ने कबीरदासजी से कहा – आपकी आयु बढ़ रही है, थोड़ा काजल लगा लिया करें, तो आपकी आँखों के लिए अच्छा रहेगा। वे कहने लगे – कहाँ लगायें? बोले – आँखों में लगाइए। तो कहते हैं – अब तो आँखों में काजल की रेखा लगाने की भी जगह नहीं है –

कबिरा काजर रेख हूँ, अब तो दिये न जाय ।
प्रियतम छवि नैनन बसी, दूजो कहाँ समाय ।।

बड़ी विचित्र बात लगती है, आँख में काजल लगाने के लिये जगह नहीं है। उसका अर्थ केवल स्थूल नहीं है। काजल हम इसीलिए लगाते हैं कि आँखों की ज्योति अच्छी बनी रहे और हम देखते रहें। पर कबीरदासजी कहते है कि जब भगवान का सौन्दर्य देख लिया, अब देखने को कुछ है ही नहीं। काजल लगाकर करेंगे क्या? जो देखना था, उसे देख लिया, जिसे पाना था, उसे पा लिया। यह दृष्टि के प्रति भक्तों का आग्रह है, परन्तु प्रारम्भ में परशुरामजी महाराज के हृदय में, नेत्रों में यह वृत्ति नहीं है। जनकनन्दिनी सीता तो श्रीराम को देखते ही पलकों के किवाड़ बन्द कर देती हैं –

दीन्हे पलक कपाट सयानी । १/२३२/७

भगवान की सुन्दरता देखने के बाद पलकों के किवाड़ बन्द कर लेना, इसका अर्थ है कि अन्य कोई वृत्ति, कोई वस्तु, कोई प्रलोभन हमारी दृष्टि में न आ सके। इसलिए अन्तर आ गया – परशुरामजी ने श्रीराम को देखा, पर किवाड़ बन्द नहीं किये। नेत्र में सौन्दर्य दिखाई दिया, पर उसके पश्चात् श्रीराम से दृष्टि हट गई।

श्रीराम को देखना भी एक कला है और उसमें जो सूत्र है, ऐसे भावपूर्ण तत्त्व उसमें संकेत के रूप में रखे गये हैं कि उससे केवल काव्य के लिए नहीं, काव्य से भी अधिक हम साधना और भक्ति के सन्दर्भ में उसका आनन्द लें। कोहबर में सखियाँ श्रीराम का दर्शन कर रही है। देखने में लगा कि श्रीसीताजी श्रीराम को नहीं देख रही हैं। आश्चर्य हुआ ! सभी श्रीराम को देख रहे हैं, सीताजी नही देख रही हैं? पर बाद में पता चला कि सीताजी देख रही हैं, और एक भिन्न पद्धति से देख रही हैं। और उस पद्धति से जो देख लेता है, वह धन्य हो जाता है। उसके बिना भी देखा गया, उसके बिना भी आनन्द आया, लेकिन सखियों ने देखा कि इनकी दृष्टि तो श्रीराम की ओर नहीं है। तो फिर कहाँ है?

सीताजी के हाथ में सोने का कंकण है। सोने के कंकण में मणि जड़ा हुआ है। और उस मणि में श्रीराम का स्वरूप दिखाई दे रहा है। सीताजी उस कंकण के मणि में श्रीराम को देख रही हैं। श्रीराम बैठे हुए हैं, तो उनको कंकण के मणि में देखने की क्या आवश्यकता? बड़ी अनोखी बात है। जब आप दर्शन करेंगे, तो आपको संयोग की अनुभूति होगी, पर सीताजी संयोग की स्थिति में भी वियोग के भय से आतंकित हैं। इसको समझने और इसका रस लेने के लिए तो आपको भ्रमर बनना पड़ेगा। कमल का सुगन्ध तो सब सूँघ सकते हैं, पर कमल के मकरन्द का रसास्वादन बिना भ्रमर बने नहीं किया जा सकता। संयोग में वियोग के भय को भ्रमर बनकर ही समझा जा सकता है।

संयोग का अनुभव होने पर क्या होता है? दो व्यक्तियों में परस्पर एक दूसरे के प्रति बड़ा आकर्षण दिखाई देता है। एक-दूसरे से कहते हैं, तुम्हें देखे बिना रहा नहीं जाता। पर यदि कुछ दिनों बाद विवाह हो जाय, तो दोनों परस्पर एक दूसरे को देखते-देखते इतने ऊब जाते हैं कि कहते हैं – कब तक देखते रहें? एक महिला ने कहा – मेरे पतिदेव बहुत घर पर रहने लगे, तो मैं बाध्य करती थी कि जरा बाहर जाओ। मैंने पूछा – क्यों? बोलीं – चौबीसों घण्टे वही शक्ल सामने ! अरे, थोड़ी देर के लिए तो हट जाओ, भाई ! मनुष्य संयोग की अधिक अनुभूति में भी ऊब जाता है। उसे पहले जितना अच्छा लगता था, अब वह बात नहीं लगती

है। ऊब जाता है और परेशान होकर सोचने लगाता है कि कैसे यह थोड़ा दूर हटे।

यह भक्तों की विचित्र दृष्टि है, जो सीताजी के जीवन में दिखाई देती है, राधारानी के जीवन में दिखाई देती है। वहाँ भी यह अनुभव होता है कि बस संयोग हो गया, तो कहीं वितृष्णा तो नहीं हो जायेगी? तो विशिष्टता यह है कि संयोग में भी उसको सदा वियोग का भय बना रहता है। और वियोग की आशंका बनी रहती है, तो संयोग की आकांक्षा बनी रहती है। यह जो भक्ति का अनोखा रस है – विरह में मिलन और मिलन में विरह – इन दोनों का वर्णन भक्तों ने बहुत भावपूर्ण स्वर में किया है। राधारानी के लिए सूरदासजी ने लिखा है – श्रीकृष्ण बैठे हुए हैं, श्री राधारानी के पास, अत्यन्त निकट हैं, पर राधारानी के मन में कुछ घबराहट हो रही है। विश्वास नहीं हो रहा है –

राधेहु मिले प्रतीत न आवत ।।

पास बैठी हुई हैं, श्रीकृष्ण इतने निकट हैं, अब घबराहट किस बात की है? सूरदासजी कहने लगे कि राधारानी की समस्या यह है। नेत्र से देख रही हैं, दर्शन का सुख पा रही हैं। देखती हैं, और उनको बार-बार नये-नये रूप में देखकर अपने हृदय में भरती जा रही हैं –

राधेहु मिले प्रतीत न आवत ।
जदपि नाथ बिधु बदन विलोकत
दरसन को सुख पावत ।।
भरि-भरि लोचन रूप परम निधि
हिय में आनि दुरावत ।।

तो इससे बढ़कर संयोग क्या होगा? देख रही हैं, उनके रूप को हृदय में भर रही हैं, अब घबराहट किस बात की है। सूरदासजी कहते हैं – उनकी समस्या हम आपको कैसे समझायें। घबराहट उनको यह सोचकर होने लगी कि मैं सपने में देख रही हूँ या सचमुच देख रही हूँ –

सपनो आहि कि आहि सत्य !

सामने दिखाई दे रहा है और लग रहा है कि कहीं यह सपना तो नहीं है? बुद्धि-वितर्क बढ़ा, जब लगने लगा कि नहीं, मैं सचमुच देख नहीं रही हूँ, यह केवल सपने में देख रहीं हूँ, तो घबराहट उत्पन्न हो गई – अरे, ये कृष्ण तो सपने के हैं, पता नहीं कब अगले क्षण यह सपना टूट जाय। उसके बाद तो दूरी आ जाती है।

किसी ने कहा – महाराज, ये आपकी व्यर्थ की बातें हैं। क्या असंगत बातें आप कहते हैं! – राधारानी देख रही हैं, विश्वास नहीं हो रहा है। डर रही हैं – सच है या सपना है? तो वे बोले – आपकी समझ में नहीं आता, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आप इसे समझने के लिए बने ही नहीं हैं। जो समझने के लिए आप बने हैं, उसे समझिये। तो फिर यह क्या है? बोले – समुद्र की लहरें जब उठती हैं, तो क्यों उठ रही हैं? क्यों आगे, क्यों पीछे? अब इस क्यों का उत्तर आप क्या ढूँढ़ रहे हैं –

सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावत ।।

इस तरह मानो एक दिव्य स्थिति है। यहीं सीताजी के प्रसंग में गोस्वामीजी उसी भावना को प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं – सीताजी श्रीराम को देखते हुए डरी हुई हैं। देख रही हैं और डरी हुई हैं। – डर के मारे क्या कर रही हैं? – सीताजी हाथ में कंकण पहने हुई हैं, और हाथ को हिलने नहीं दे रही हैं –

निज पानि मनि महूँ देखि अति
मूरति सुरूप निधान की ।
चालति न भुज बल्ली बिलोकनि
बिरह भय बस जानकी ।। १/३२७/ छं.३

सखियाँ कह रही हैं – हाथ थक गया होगा। जरा हाथ को बदल लीजिए, पर वे हाथ को हिलने ही नहीं देतीं। और हाथ को ही नहीं, आँख की पुतलियों को भी एकदम स्थिर करके, बिलकुल हिलने नहीं देतीं। – क्यों? – यदि कहीं मेरा हाथ हिला, तो भगवान का दर्शन बन्द हो जायगा। और यदि हाथ नहीं हिला, पर आँख की पुतली हिल गई, तो भी भगवान राम के दर्शन में व्यवधान हो जायगा।

सीताजी ने मानो बता दिया कि प्रभु को देखने के बाद भी यदि सावधानी हटी, तो भगवान का दर्शन मिट जायगा। इसका अभिप्राय है कि भगवान सामने हैं, पर आपके हाथ हिल गये, या आपकी आँखें फिसल गईं तो? हाथ कर्मेन्द्रिय हैं और नेत्र ज्ञानेन्द्रिय हैं। आप कुछ और करने में डूब गये, तो भगवान के होने से क्या लाभ? वे तो हैं ही। तो फिर दिखाई क्यों नहीं दे रहे हैं? इसलिये कि हाथ भी हिल रहा है, आँख की पुतलियाँ भी हिल रही हैं, तो दिखाई कैसे दे? अत: वे देखने की एक नई कला बताती हैं –

चालति न भुजबल्ली बिलोकनि
बिरह भयबस जानकी ।

भक्ति देवी की दृष्टि! मानो इसमें संकेत किया गया कि भगवान का दर्शन होने पर भी हमारे अन्त:करण में उत्कण्ठा, व्याकुलता, सजगता हो कि हमारी दृष्टि कहीं अन्यत्र जाये ही नहीं। आप कह सकते हैं, तो क्या हम संसार का व्यवहार नहीं करेंगे, संसार के काम नहीं करेंगे? और उसका उत्तर भी आपको पुष्पवाटिका में मिल जायगा। पुष्पवाटिका में श्रीरामभद्र का दर्शन करके सीताजी को सब कुछ भूल गया। समय का भान नहीं रहा। सखियों को ध्यान हो आया कि ये तो इतनी देर से देख रहीं है। माँ पूछेंगी – पूजा में इतना विलम्ब कैसे हुआ? लेकिन सखियाँ इतनी भावशून्य नहीं हैं कि सीताजी को कहें – जल्दी चलिए, ये क्या कर रही हैं। जो लोग

बोलने में कुशल नहीं होते, वे तो ऐसा बोलते हैं कि सारा रस ही नष्ट कर देते हैं। पर सखियाँ बड़ी भावुक हैं। एक सखी ने तत्काल सीताजी का हाथ पकड़ कहा – सखी, कल फिर इसी समय आयेंगे –

पुनि आउब एहि बेरिआँ काली । १/२३३/६

कितनी मीठी बात हैं। वियोग की बात वियोग के लिए नहीं, कल फिर संयोग होगा, दर्शन होंगे, इसलिए ऐसा कह दिया और सीताजी समझ गईं कि अब जाना है। पर सखियाँ तो कहती हैं – कल फिर दर्शन होगा। पर कल और आज के बीच जो दिन है, जो रात है, उसका क्या होगा? और तब गोस्वामीजी ने कहा – हाँ, देखना हो तो संसार को भी देखा जा सकता है, पर कैसे? सीताजी जब देखती हैं, सखियों के साथ चली जा रही हैं। और जाते-जाते श्रीसीताजी की दृष्टि पीछे की ओर चली जाती है। पीछे की ओर श्रीराम तो अब दूर हो रहे हैं। तब गोस्वामीजी कहते हैं – सीताजी एक वृक्ष को देखकर कहती हैं, तुमने देखा, यह कितना सुन्दर तमाल है? एक पक्षी को देखकर कहती हैं – तुमने देखा, यह पक्षी देखने में कितना आकर्षक है? एक मृग को देखा, बोलीं – सखी, इस मृग छौने की आँखें कितनी सुन्दर हैं? देख रही हैं पक्षी, देख रही हैं मृग-छौना, वृक्ष, पर गोस्वामीजी ने कहा – नहीं, नहीं यह तो लग रहा था, पर देख किसको रही थीं?

देखन मिस मृग बिहग तरु
फिरइ बहोरि बहोरि ।। १/१३४

मानो जब श्रीराम के सुन्दर श्याम वर्ण का ध्यान करना है, तमाल श्याम वर्ण का है, यह तमाल कितना सुन्दर है, पर वह तमाल वाटिका का तमाल नहीं है, यह तो श्याम तमाल राम हैं। जब मृग की बात कहती हैं तो उनकी दृष्टि श्रीराम की दृष्टि की ओर है, जब वे पक्षियों के माध्यम से श्रीराम को ऊपर से नीचे तक देखती हैं। जब पशु-पक्षियों में भी वे ही दिखाई देने लगे, तो सचमुच हमने वह दृष्टि पा ली और उस दृष्टि को पा लेने के बाद? – भगवान के दर्शन का आनन्द ! वह प्रतिक्षण उन्हीं को देखता है। किसी ने कबीरदास से पूछा – आप भगवान को कैसे देखते हैं? कितनी देर तक नेत्र मूँदते हैं। बोले – हम तो निरन्तर खुली आँखों से ही उन्हें देखते रहते हैं –

खुले नयन हरि रूप निहारूँ, भाष करूँ नहि दूजा ।

वह दृष्टि ! अनन्यता का अर्थ केवल इतना ही नहीं है। वह अन्य-अन्य का अभिप्राय है – संसार में अन्य-अन्य वस्तुओं की अभिलाषा। स्वाति नक्षत्र के प्रेमी तो बहुत दीख पड़ते हैं। कहते हैं कि यदि स्वाति नक्षत्र का जल बरसे और सीप में पड़े तो मोती बन जाता है; केले में पड़े तो कपूर बन जाता है, बाँस में पड़े तो बंसलोचन बन जाता है और वह हाथी के मस्तक पर गिरे तो वह गजमुक्ता बन जाता है।

कौन व्यक्ति बंसलोचन नहीं चाहता? कौन गजमुक्ता नहीं चाहता? कौन कपूर नहीं चाहता। स्वाति नक्षत्र के जल से कपूर भी मिल सकता है और मुक्ता भी मिल सकती है। यही भगवान की स्थिति है। भगवान अगर स्वाति नक्षत्र हैं, तो पहले उनसे ये नाना प्रकार के कामनावाले व्यक्ति मुक्ता, बंसलोचन आदि सब पा लेते हैं।

परन्तु वही जल जब चातक के मुँह में जाता है, तब मोती बनता है क्या? कपूर बनता है क्या? बंसलोचन बनता है क्या? कुछ नहीं बनता, क्योंकि उसे उस स्वाति नक्षत्र के जल से अन्य कुछ नहीं चाहिए, केवल जल ही चाहिए। इसलिए जो भगवान से चाहते हैं, भगवान उनकी कामना पूरी करते हैं, पर जो लोग चातक के समान केवल भगवान को चाहते हैं, वहाँ तो भगवान का रूप ही रूप रहता है, उनसे और कुछ पाने की इच्छा नहीं होती। इसलिए भगवान के सौन्दर्य को देखने की यह जो वृत्ति है, यह एक शैली है। परशुरामजी महाराज अभी उस दृष्टि तक नहीं पहुँचे हैं। उन्हें श्रीराम को देखकर आनन्द तो आया, उनको उन्होंने आशीर्वाद भी दिया। पर उसके बाद उनकी दृष्टि चली गई। – कहाँ? – अरे, मैं किस उद्देश्य से यहाँ आया था? – धनुष तोड़ने वाले को दण्ड देने के लिए। और तब उन्होंने राम को देखना बन्द कर दिया। – किसको देखने लगे? जो टुकड़ों में पड़ा हुआ खण्डित धनुष था, उस पर दृष्टि चली गई –

देखे चापखंड महि डारे । १/२७०/२

इतने में ही जीवन का सत्य हम सबको समझ लेना है। – राम कौन हैं? बोले – अखण्ड ज्ञान-स्वरूप –

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७७/४

और धनुष क्या है? – वह तो टुकड़ों में बँटा हुआ है। **अखण्ड को देखिए तो आनन्द-ही-आनन्द है और खण्ड को देखिए, तो क्रोध आता है** – मेरी जाति का है या नहीं, मेरे कुल का है या नहीं, मेरे नगर का है या नहीं, मेरे प्रान्त का है या नहीं, मेरे देश का है या नहीं? यह जो टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ विश्व है, उसे हम इस माध्यम से देखते हैं, तो वही दशा होती है, जो परशुरामजी की हो गई। क्रोध आ गया। पूछने लगे – अरे मूर्ख जनक, बता तो, इस धनुष को किसने तोड़ा? और फिर बड़ा लम्बा संवाद हुआ। पर उस सुदीर्घ संवाद के अन्त में क्या हुआ?

खर-दूषण के प्रसंग में राक्षस आपस में लड़कर मर गये। लेकिन यहाँ? गोस्वामीजी कहते हैं – यहाँ ऐसा कुछ नहीं हुआ? पहले तो परशुरामजी लड़ने के लिए ललकारने लगे। श्रीराम से बोले – उठाओ शस्त्र, मुझसे लड़ो। प्रभु मन-ही-मन हँसते हैं, क्या स्वयं से भी लड़ा जाता है? क्या राम-राम से लड़ते हैं? वे कहते रहे, पर जब ये नहीं लड़ते हैं, तो अन्त में क्या होता है? आँखों में जो दोष आ गया

था, वह मिट गया। संसार को विजयी और दण्डित करनेवाले परशुरामजी महाराज की आँखों में गर्व था – मैंने क्षत्रियों को, अन्यायियों को दण्ड दिया है, मेरे जीवन में कोई कामना नहीं है। और सहसा जब उन्होंने श्रीराम की भाषा सुनी, तो बुद्धि पर आया हुआ परदा हट गया –

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।
उघरे पटल परसु धर मति के ।। १/२८४/६

मैं क्या कह रहा हूँ? इन्होंने क्या कहा है? इन्होंने जो कहा है, इसका क्या अर्थ है? और आप देखेंगे – वही परशुरामजी हैं, वही श्रीराम हैं, जिनके लिए अभी उन्हें लग रहा था कि इस राजकुमार ने धनुष तोड़ दिया है, तो इसके लिये उसे सिर काटने के लिए चुनौती देने लगे थे। क्रोध में भर गये थे। पर अब कितना आनन्द आ गया? शरीर में रोमांच हो गया। बड़े आनन्दित हो गये –

जाना राम प्रभाऊ तब पुलकि प्रफुल्लित गात।

परशुरामजी के जीवन में क्रोध का इतना अतिरेक है कि कभी किसी ने उन्हें प्रसन्न रूप में देखा ही नहीं था। क्रोध जीवन में, समाज में आवश्यक है। अन्याय को बुराई को मिटाने के लिए क्रोध करना पड़ता है। लक्ष्मणजी श्रीराम से कहते है – महाराज, शान्ति नहीं, क्रोध कीजिए –

सोषिय सिंधु करिअ मन रोसा ।। ५/५०/३

लेकिन कितना और कब क्रोध करना चाहिये? घर में आग चाहिए, पर एक कमरे में, चूल्हे में आग चाहिए या आप पूरे घर में ही आग लगाना चाहते हैं? यदि आप इतनी आग चाहेंगे, तो सब कुछ भस्म हो जायेगा। परशुरामजी ने क्रोध की अग्नि के द्वारा अन्यायी लोगों को जलाया, दण्डित किया, पर वह क्रोध अब इस सीमा तक पहुँच गया है कि पहले तो धनुष टूटा तो क्रोध आ गया। फिर लक्ष्मणजी का उत्तर सुनकर क्रोध आ गया। क्रोध में भरकर बोले –

रे नृप बालक काल बस
बोलत तोहि न सँभार। १/२७१

और जब लक्ष्मणजी परशुरामजी की बात सुनकर हँसने लगे, बोलने लगे, तो क्रोध और भी बढ़ गया कि यह ऐसा कैसे बोल रहा है, कैसे ढिठाई से बोल रहा है? शंकरजी के धनुष की तुलना यह धनुही से कर रहा है –

धनुही सम त्रिपुरारि धनु। १/२७१

इसको बोलना नहीं आता। तो हँसने लगे – अब तो बोल नहीं रहे हैं। बोले – हँस क्यों रहा है –

हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। १/२७७/६

श्रीराम को लगा कि अब तो लक्ष्मण को थोड़ा संकेत करना चाहिए। तो लक्ष्मण को उन्होंने आँख से संकेत कर दिया। समझ गये और वे तुरत बोलना बन्द करके गुरुजी के पास जाकर खड़े हो गये –

गुर समीप गवने सकुचि। १/२७८

लेकिन प्रभु ने परशुरामजी की ओर देखा। अब तो हँस भी नहीं रहा है। बोल भी नहीं रहा है। अब तो कोई बात नहीं है। उन्होंने कहा – बोल नहीं रहा है, हँस नहीं रहा है, पर देख कैसे रहा है? घूर कैसे रहा है?

अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें। १/२७९/७

अब लीजिए। अब हँसने में, बोलने में, देखने में, सब में क्रोध ही क्रोध। तो भगवान श्रीराम ने तो बचा लिया। बात यह है कि आग यदि खूब लगी हो, तो बुझाने के लिए पानी भी खूब चाहिए। तो श्रीराम का जो घनश्याम रूप है, वही अपने शील का वर्षण करके उस अग्नि को बुझाने में सक्षम होता है। वे उसको मिटाने में समर्थ हो जाते हैं। इसीलिए भगवान राम जब हाथ जोड़े खड़े हैं, तो परशुरामजी के आँखों में कितना आनन्द आया। कैसा रोमांच हो रहा है। और वे भरी सभा में श्रीराम की स्तुति करने लगे –

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू ।। १/२८५/१

और जिन लक्ष्मण पर उनको इतना क्रोध आया था, उनके लिए भी उन्होंने कहा –

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता ।। १/२८५/६

मानो इसका अभिप्राय है कि प्रभु तो अनगिनत रूपों में अवतार लेते हैं, आते हैं। भगवान का सौन्दर्य अतुलनीय है, अनुपम है। लेकिन अगर हम खर-दूषण ही बने रहेंगे, तो हम उस रूप को सामने देखकर भी लड़ेंगे। यदि हम परशुरामजी की वृत्ति तक पहुँच जायँ, तो हमारा भ्रम मिट जायेगा। और जब किशोरीजी की दृष्टि को पा जायँ, तब तो फिर धन्यता की पराकाष्ठा है।

सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती।
जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ।। १/२६३/६

– सीताजी के सुख का कैसे वर्णन किया जाय – मानो चातकी स्वाति-जल पा गयी हो। यही चातक वृत्ति जिसके पास है, उसके हृदय में प्रभु निवास करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

विद्या और विनय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारे एक परिचित हैं। बड़े पण्डित हैं। उनके ज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत है। वे किसी भी विषय पर संस्कृत साहित्य से धारा-प्रवाह उद्धरण दे सकते हैं। पर लोग उनकी विद्या का लाभ नहीं उठा पाते। कारण यह है कि उनकी विद्वत्ता में मध्याह्न के सूर्य की सी प्रखरता है। दोपहर का सूर्य यदि आलोक देता है, तो ताप भी कम नहीं देता। दोपहर के सूर्य को न तो कोई देखता है, न देखने की इच्छा ही करता है। व्यक्ति यदि कमरे में हो, तो सूर्य के उत्ताप से बचने के लिए खिड़की बन्द कर लेता है या उस पर पर्दा खींच लेता है। जहाँ सूर्योदय और सूर्यास्त को देखने के लिए मनुष्य में आग्रह होता है, वहाँ सभी लोग मध्याह्न के सूर्य से बचना चाहते हैं। मनुष्य प्रकाश तो चाहता है, पर उसके ताप को नहीं चाहता।

यही बात विद्या के सन्दर्भ में भी लागू होती है। जिसमें अपने पाण्डित्य का अभिमान है, ऐसे व्यक्ति की विद्वत्ता दूसरों पर धौंस जमाने के लिए होती है, इसलिए लोग उससे दूर भागते हैं। विद्या तभी कल्याणकारी होती है, जब वह विनय से युक्त होती है। विनय ऐसा गुण है, जो विद्या के उत्ताप से व्यक्ति की रक्षा करता है और विद्या का फल उसे प्रदान कर उसके जीवन को धन्य कर देता है।

विद्या अज्ञान पर नश्तर का काम करती है। जब हम किसी व्रण को नश्तर से चीरते हैं, तो उससे लाभ तो होता है, मगर पीड़ा का भोग भी करना पड़ता है। पर एनिस्थीशिया के द्वारा व्यक्ति के उस अंग को सुन्न करके चीरा लगाया जाय, तो लाभ के साथ-साथ चीरे की पीड़ा से भी राहत मिल जाती है। विनय एनिस्थीशिया की भाँति है, जो हमारे अहंकार को सुन्न कर हमें विद्वत्ता के उत्ताप से बचा लेती है।

वस्तुतः मनुष्य का ज्ञान ज्यों ज्यों विस्तृत होता जाता है, उसमें स्वाभाविक रूप से ज्ञान की व्यापकता और अपनी क्षुद्रता को देखकर विनय का उद्रेक होता है। यदि ज्ञान के साथ मनुष्य में विनय न आये, तो समझना चाहिए कि ज्ञान की प्रक्रिया में कोई त्रुटि रह गयी है। आज की इस बीसवीं शताब्दी के बड़े-बड़े वैज्ञानिक अधिकाधिक विनयी होते जा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान का दम्भ आज दिखाई नहीं देता। तब वैज्ञानिक की दृष्टि में सब कुछ determined यानी निश्चित था। उस युग को वे Deterministic Age अर्थात् 'निश्चितवाद का युग' कहकर पुकारते थे। वे मानते थे कि विश्व की समस्त घटनाओं को गणित के समीकरणों में बाँधकर प्रस्तुत किया जा सकता है। पर आज ज्ञान की प्रभूत वृद्धि के कारण यह मान्यता नष्ट हो गयी है। हाइजनबर्ग द्वारा घोषित Principle of indeterminacy यानी 'अनिश्चित-वाद के सिद्धान्त' के बाद से विज्ञान के क्षेत्र में जो नये और अत्यन्त व्यापक आयाम खुले हैं, उनसे वैज्ञानिक हतप्रभ हो गये हैं और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते हुए विनयी बने हैं। आइंस्टाइन विश्व की विराटता के प्रति सम्भ्रम और विनय के भाव में ज्ञान की सार्थकता देखते हैं। वे कहते हैं – "My religion consists of a humble admiration of the illimitable superior spirit who reveals himself in the slight details we are able to perceive with our frail and feeble minds, that deeply emotional conviction of the presence of a superior reasoning power, which is revealed in the incomprehensible universe, forms my idea of God." – अर्थात् 'जो असीम उत्कृष्ट आत्मा उन छोटी छोटी बातों में भी, जिन्हें हम अपने कमजोर और अस्थिर मन से देखने में समर्थ होते हैं, अपने को प्रकाशित करती है, उसके प्रति विनयपूर्ण प्रशंसा का भाव पोषित करने में मेरा धर्म निहित है। अतीन्द्रिय जगत् में प्रकाशित होनेवाली एक उत्कृष्ट बौद्धिक शक्ति की विद्यमानता के प्रति गहरी भावनात्मक अवधारणा ही मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा है।''

तात्पर्य यह कि सच्चा ज्ञानी इस अनन्त ज्ञानमय जगत् के समक्ष अपने को बौना अनुभव करता है। इसलिए उसमें ज्ञान के दम्भ का दंश नहीं रहता। यही ज्ञान की शोभा है। जैसे नारी की शोभा उसके वस्त्राभरणों से न हो, उसकी लज्जा से होती है, वैसे ही विद्या की शोभा विनय से होती है। कहा भी तो है – **विद्या विनयेन शोभते।**

❖ ❖ ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १२३ –

ईश्वर-निर्भरता का तात्पर्य

वैकुण्ठ में श्रीलक्ष्मी और नारायण बैठे हुए थे। लक्ष्मीजी उनकी चरण-सेवा कर रही थीं। सहसा नारायण उठकर खड़े हो गये।

उन्होंने पूछा – "महाराज, कहाँ चले?"

नारायण बोले – "मेरा एक भक्त बड़ी विपत्ति में पड़ गया है, उसी की रक्षा करने के लिए जा रहा हूँ।" यह कहकर नारायण चले गये। परन्तु तत्काल ही लौट आये।

लक्ष्मीजी ने पूछा – "भगवन्, आप इतनी जल्दी कैसे लौट आये?"

नारायण ने हँसकर कहा – "वह प्रेम से विह्वल भक्त अपनी राह चला जा रहा था। रास्ते में धोबियों ने सूखने के लिए कपड़े फैलाये थे। वह भक्त उन कपड़ों के ऊपर से होकर जा रहा था। यह देखकर धोबी लोग लाठी लेकर मारने के लिए दौड़े, इसीलिए मैं गया था।"

लक्ष्मी ने पूछा – "तो फिर इतनी जल्दी कैसे आ गये?'

नारायण ने हँसते हुए कहा – "जाकर मैंने देखा कि उस भक्त ने धोबियों को मारने के लिए खुद ही पत्थर उठा लिया है। इसीलिए मैं बीच से ही लौट आया।"

जो लोग पूरी तौर से ईश्वर की शरण लेकर उन्हीं पर ही निर्भर रहते हैं, वे उन्हीं की रक्षा करते हैं।

विनय-भाव

– १२४ –

सच्ची विनम्रता दुर्लभ है

एक व्यक्ति एक साधु के समक्ष अत्यन्त दीनभाव दिखाते हुए बोला – "महाराज, मैं बड़ा अधम हूँ, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" साधु समझ गये कि यह उसका दिखावटी विनय-भाव है, वस्तुत: हृदय में उसके दीनता का अहंकार भरा हुआ है। अत: वे उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिये बोले – "तुम ऐसी कोई वस्तु ले आओ, जो तुमसे भी अधिक हीन हो।" उसने सोचा – "भला मुझसे हीन वस्तु और क्या हो सकती है? केवल विष्ठा ही मुझसे हीन होगी।" ऐसा सोचकर विष्ठा लाने के लिए वह मैदान में गया। पर उसके पास आते ही विष्ठा बोल उठी – "ऐ पापी, मुझे मत छू! पहले मैं देवताओं के भोग में चढ़नेवाली सुन्दर मिठाई थी। परन्तु एक बार तेरे सम्पर्क में आते ही मेरी ऐसी दशा हो गई कि मेरे पास आते ही लोग नाक पर कपड़ा लगाकर दूर हट जाते हैं। अब तू फिर मुझे छूने आया है? तेरे स्पर्श से न जाने मेरी और भी क्या दुर्गति होगी! मुझे मत छू!"

यह सुनकर उस व्यक्ति का अहंकार दूर हुआ और उसमें सच्ची दीनता आई, जिससे उसकी द्रुत आध्यात्मिक प्रगति होने लगी।

त्याग और वैराग्य

– १२५ –

बचपन से ही धर्मभाव

वेदों में 'होमा' पक्षी की कथा है। यह चिड़िया आकाश में बहुत ऊँचाई पर रहती है। वहीं पर वह अण्डे देती है।

अण्डे देते ही वे नीचे गिरने लगते हैं, परन्तु उस समय भी वे इतने ऊँचे पर रहते हैं कि गिरते-गिरते बीच ही में फूट जाते हैं। तब बच्चे गिरने लगते हैं। गिरते-ही-गिरते बच्चों की आँखें खुल जाती हैं और पंख निकल आते हैं।

आँखें खुलने से जब बच्चे देखते हैं कि हम नीचे गिर रहे हैं और जमीन से टकराकर चूर चूर हो जाएँगे। तब वे ऊपर अपनी माँ की ओर उड़ने लगते हैं। माता के पास पहुँचना ही उनका लक्ष्य हो जाता है।

प्रह्लाद, शुकदेव, नारद, ईसा, शंकराचार्य जैसे महापुरुष होमा पक्षी की तरह नित्यसिद्ध होते हैं। ईश्वर का ज्ञान लेकर पैदा होते हैं। वे बचपन में ही संसार को देखकर डर जाते हैं। समझ जाते हैं कि संसार की छूत देह में लगी, तो फिर निस्तार न होगा। इनकी एकमात्र चिन्ता यही रहती है कि कैसे माता के निकट जाएँ, कैसे ईश्वर के दर्शन हों।

– १२६ –

त्याग धीरे-धीरे नहीं होता

एक आदमी कन्धे पर गमछा रखकर तालाब में नहाने जा रहा था। उसकी स्त्री बोली – "तुम किसी काम के नहीं हो, उम्र बढ़ रही है, अब भी यह सब नहीं छोड़ सके। मुझे छोड़कर तुम एक दिन भी नहीं रह सकते; परन्तु देखो, मेरा

भाई कितना बड़ा त्यागी है।''

पति – ''क्यों क्या किया है उसने?''

स्त्री – ''उसकी सोलह स्त्रियाँ थीं, वह एक-एक करके सबको छोड़ रहा है। पर तुम कभी त्याग नहीं कर सकोगे।''

पति – ''एक-एक करके कहीं त्याग होता है! अरी पगली, वह हरगिज त्याग नहीं कर सकेगा। जो त्याग करता है वह क्या कभी जरा-जरा-सा करके त्याग करता है?''

स्त्री (हँसकर) – ''फिर भी वह तुमसे तो अच्छा है।''

पति – ''अरी, तू नहीं समझी। वह क्या त्याग करेगा? त्याग करूँगा मैं, यह देख मैं चला।''

गमछा कन्धे पर डाले हुए ही वह चला गया। संसार का काम ठीक कर जाने के लिए लौटकर नहीं आया। घर की ओर उसने एक बार मुड़कर देखा तक नहीं। ज्योंही विवेक आया कि त्योंही त्यागकर चल दिया। यही है तीव्र वैराग्य।

ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीव्र वैराग्य चाहिए। ईश्वर के मार्ग का जिसे विरोधी समझो, उसे तत्काल छोड़ दो। बाद में छोड़ेंगे – सोचकर उसे रखना उचित नहीं। काम-कांचन ईश्वर के मार्ग के विरोधी हैं, उनसे मन को हटा लेना चाहिए।

– १२७ –

संन्यास के नियम बड़े कठिन हैं

त्यागियों के नियम बड़े कठिन हैं। लेशमात्र भी कामिनी और कांचन से संसर्ग न रहना चाहिए। रुपया अपने हाथ से तो छूना ही नहीं चाहिए, इसके सिवा दूसरे के पास रखने की भी कोई व्यवस्था न रहनी चाहिए।

लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी वेदान्तवादी भी था। प्राय: यहाँ आया करता था। मेरा बिस्तरा मैला देखकर उसने कहा – ''मैं आपके नाम दस हजार रुपये लिख दूँगा, उसके ब्याज से ही आपकी सेवा होती रहेगी।'' उसके यह बात कहते ही मैं मानो लाठी की चोट खाकर बेहोश हो गया।

चेतना लौटने पर मैंने उससे कहा – ''तुम्हें यदि ऐसी ही बातें करनी हों, तो यहाँ फिर कभी मत आना। मुझमें रुपया छूने की शक्ति नहीं है और मैं अपने पास रुपये रख भी नहीं सकता।''

उसकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। बोला – ''आपके लिए अब भी त्याज्य और ग्राह्य है! तो आपको अभी ज्ञान नहीं हुआ।''

मैंने कहा – ''नहीं भाई, इतना ज्ञान तो मुझे नहीं हुआ।''

लक्ष्मीनारायण ने तब वह धन हृदय के हाथ में दे देना चाहा। मैंने कहा – ''उसे देने पर भी तो मुझे कहना होगा, कि – 'इसे दे, उसे दे' और यदि उसने न दिया तो क्रोध का आना अनिवार्य होगा। रुपयों का पास रहना ही बुरा है। ये सब बातें न होंगी।

दर्पण के पास अगर कोई वस्तु रखी हुई हो, तो क्या उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा?''

– १२८ –

वेशभूषा का संस्कार

एक बार एक बहुरूपिया शिव का वेश धारण कर जमींदार के यहाँ गया। जमींदार ने उसे रुपया देना चाहा, पर उसने रुपये को छुआ तक नहीं। थोड़ी देर बाद वह हाथ-पाँव धोकर अपने सामान्य वेश में फिर जमींदार के घर आया और बोला – ''जो दे रहे थे, वह अब दो।'' जमींदार ने पूछा – ''उस समय तुमने रुपया क्यों नहीं लिया?'' वह बोला – ''उस समय तो मैं शिव बना हुआ था – संन्यासी था – रुपया कैसे छूता?''

– १२९ –

ईश्वर भीतर की आवाज सुनते हैं

एक मुसलमान नमाज पढ़ते समय – ''हो अल्ला, हो अल्ला'' – कहकर अजान दे रहा था। एक आदमी ने उससे कहा – ''तू अल्ला को पुकार रहा है, तो इतना चिल्लाता क्यों है? क्या तुझे नहीं मालूम कि वे चींटी के पैरों के नूपुरों की आवाज तक सुन लेते हैं?''

जब उनमें मन लीन हो जाता है, तब मनुष्य ईश्वर को बहुत समीप देखता है। हृदय में देखता है। जितना ही यह योग होगा, उतना ही बाहर की चीजों से मन हटता जायेगा।

'भक्तमाल' में बिल्वमंगल नामक भक्त की बात है। वह वेश्या के घर जाया करता था। एक दिन बहुत रात गये वह वेश्या के घर जा रहा था। घर में माँ-बाप का श्राद्ध था, इसलिए देर हो गयी थी। श्राद्ध की पूड़ियाँ वेश्या को खिलाने के लिए ले जा रहा था। वेश्या पर उसका इतना मन था कि किसके ऊपर से और कहाँ से होकर जा रहा है, उसे जरा भी होश नहीं था। रास्ते में एक योगी आँखें बन्द किये ईश्वर का ध्यान कर रहे थे, बेहोशी की हालत में उन्हें भी लात मारकर निकल गया। योगी गुस्से में बोल उठा, ''तू देखता नहीं? मैं ईश्वर-चिन्तन कर रहा हूँ और तू लात मारकर चला जा रहा है!'' बिल्वमंगल ने कहा, ''क्षमा कीजिये, आपसे एक बात पूछता हूँ – वेश्या का चिन्तन करके तो मुझे होश नहीं है और आप ईश्वर का चिन्तन कर रहे हैं, तो भी आपको बाहरी दुनिया का होश है! यह कैसा ईश्वर-चिन्तन है?'' वह भक्त अन्त में संसार का त्याग कर ईश्वर की उपासना करने चला गया। उसने वेश्या से कहा – ''तुम मेरी ज्ञानदात्री हो, तुम्हीं से मैंने सीखा कि ईश्वर पर कैसा अनुराग होना चाहिये।'' उसने वेश्या को माता कहकर उसका त्याग किया था।

❖ (क्रमश:) ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (४)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अमृत स्वरूपा च ।।३।।

अन्यवयार्थ – **सा** – वह (भक्ति) **अमृत स्वरूपा** – अमरत्व रूप **च** – और (भी) अर्थात् सांसारिक प्रेम से भिन्न यह भक्ति परिवर्तित नहीं होती। (इसका अर्थ यह भी है कि यह मृत्युरहित-स्वभाव की है।

अर्थ – यह (भक्ति) अमृत स्वरूप भी है।

हम प्रथम दो सूत्रों को पूरा कर चुके। प्रथम सूत्र परिचय मात्र था और दूसरा भक्ति की परिभाषा देता है। उस परिभाषा को जारी रखते हुए तीसरा सूत्र भक्ति के बारे में आगे की बात बताता है। यह सूत्र द्वितीय सूत्र से अर्थात् भक्ति के स्वरूप से जुड़ा है। पूर्ववर्ती परिभाषा यह थी कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम-स्वरूप है। अब आगे की परिभाषा द्वारा कहा गया कि यह भक्ति अमर प्रेम है। अर्थात् यह प्रेम मृत्युरहित है। अत: सर्वप्रथम, इसे परम-प्रेम-रूपा और द्वितीयत: अमृत-स्वरूपा कहा गया।

'प्रेम' शब्द का बड़ा व्यापक महत्व है। हमारे लिये तो इसका कुछ अर्थ है, परन्तु दिव्य प्रेम का अनुभव प्राप्त किये लोगों के लिये इसका कुछ भिन्न अर्थ है। वे लोग भी उसी शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु इसका अर्थ पूर्णत: भिन्न हो जाता है। भिन्न क्यों? भिन्न इसलिये, क्योंकि हम लोगों ने वह अनुभव नहीं प्राप्त किया है, हमारा अनुभव शरीर और इन्द्रियों तक ही सीमित है, जबकि दिव्य प्रेम इस सम्बन्ध में एक अनूठा अनुभव है, जो शरीर तथा इन्द्रिय-विषयों – दोनों से परे होता है। इस प्रकार, यद्यपि यह पूर्णत: भिन्न होता है, तथापि ऐसी अन्य कोई अभिव्यक्ति नहीं है, जिसके द्वारा हम इस भाव को बता सकें, अत: इसी प्रकार की अभिव्यक्ति का प्रयोग होता है। इसे 'प्रेम की श्रेणी का' कहा जाता है, क्योंकि दिव्यानन्द को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति की अभिव्यक्ति जागतिक प्रेम की अभिव्यक्ति करनेवाले व्यक्ति की अभिव्यक्ति से बहुत मिलती-जुलती है। बाह्य अभिव्यक्ति तो समान होती है, परन्तु उसमें बहुत बड़ा अन्तर होता है। इसलिये इसे अमृत-स्वरूप कहा जाता है।

अत: भक्ति परम प्रेम है और अमृत-स्वरूप भी है। यह केवल परम प्रेम ही नहीं, बल्कि अमृत प्रेम भी है। अभिप्राय यह है कि इसका अन्त नहीं होता। हम जितने भी प्रकार के जागतिक प्रेमों के बारे में सोच सकते हैं, उन सबका आदि-अन्त होता है। कोई भी ऐसा जागतिक प्रेम नहीं है, जो सदा-सर्वदा अबाध रूप से चलता रहे। ऐसी कोई चीज सम्भव ही नहीं है। ऐसा इसलिये है, क्योंकि इसको अनुभव करनेवाला व्यक्ति सीमित होता है और यह प्रेम जिस व्यक्ति के लिये होता है वह भी सीमित होता है। अत: वह समय, परिस्थितियों और प्रेम के लक्ष्य-रूप पदार्थों द्वारा सीमित होकर एक अस्थायी वस्तु होने के लिये बाध्य है। यही कारण है कि साधारण प्रेम अनन्त या चिरकालिक नहीं होता। यह एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है, जो दिव्य प्रेम को हमारे द्वारा अनुभव किये जा सकनेवाले किसी भी अन्य प्रेम से पृथक् कर देता है। हमारे जागतिक प्रेम के समस्त अनुभवों का आदि और अन्त होता है। उसमें तीव्रता अवधि और गुणवत्ता की भी सीमा होती है। दूसरी ओर, दिव्य प्रेम सब तरह से असीमित है। उस प्रेम की एक बार अनुभूति हो जाने पर, वह सदा-सर्वदा के लिये बना रहता है। इसका कारण यह है कि ऐसा पवित्र प्रेम किन्हीं बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहता। जब हम संसार में किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्पर्क में आते हैं, तो हमारा प्रेम जाग्रत हो जाता है। दिव्य प्रेम में किसी बाहरी सम्पर्क की झंझट नहीं है, क्योंकि दिव्य प्रेम हमारे भीतर है और प्रेमास्पद भी हमारे भीतर हैं। इसलिये यह अनन्त है। वह प्रेम या अनुभव ऐसा कोई चीज नहीं है जिसे हम एक वस्तुनिष्ठ सत्ता के प्रति एक कर्ता के रूप में अनुभव करते हैं यह हम लोगों से अभिन्न है और यद्यपि यह ईश्वर के प्रति है,

फिर भी, वे ईश्वर भी हम लोगों से पृथक् नहीं है।

यहाँ तक कि एक भक्तियोगी भी अपने को परमेश्वर से पूर्णतया अलग नहीं मानेगा। वह द्वैत-भावना रख सकता है, किन्तु वह द्वैत-भावना जागतिक प्रकार की नहीं होती। अत: जितनी मात्रा में इसका लक्ष्य परम प्रेम होता है, वहाँ तक इस प्रकार का प्रेम अनन्त होता है। परम प्रेम अमृत-रूपा होने को बाध्य है। इस परिभाषा में एक शब्द 'भी' (च) है। यह दर्शाता है कि यह पृथक् न होकर प्रथमोक्त परिभाषा का ही एक हिस्सा है।

हम देख चुके हैं कि भक्ति को किस प्रकार ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप में परिभाषित किया गया है और यह अमृत-स्वरूपा भी होती है। इन दोनों सूत्रों में भक्ति को परिभाषित किया गया है। हमें यह पता चल गया है कि यह किस प्रकार परम प्रेमरूपा होती है। हम केवल यह नहीं कहते कि यह परम प्रेम है, बल्कि परम-प्रेम-रूपा है। ऐसा इसलिए है कि जब हम परम प्रेम कहते हैं, तो इसका अर्थ वह प्रेम है जिससे हम परिचित हैं। और जब इसे परम प्रेमरूपा कहा जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि हमारे आत्मीय अनुभव को दृष्टान्त स्वरूप उद्धृत किया गया है, क्योंकि यह ईश्वर के प्रति प्रेम से कुछ समानता रखता है। हमारा जागतिक प्रेम बिल्कुल ईश्वर-प्रेम जैसा नहीं होता। इसमें काफी भिन्नता है, जिसे बाद में बताया जायेगा। यहाँ, केवल इतना ही वर्णित है कि यह हमारे उस जागतिक प्रेम के समान होता है, जो सर्वोत्कृष्ट प्रकार का होता है।

सर्वप्रथम, पार्थिव प्रेम का वर्णन है, तदुपरान्त उसके सर्वोत्कृष्ट रूप का वर्णन किया गया और तदुपरान्त कहा गया कि यह बिल्कुल वही तो नहीं है, बल्कि उसके समान है। और अन्तत: उसे ईश्वरोन्मुखी कहा गया है।

अत: भगवद्-भक्ति के अर्थ को सुस्पष्ट तौर पर बताने में इस परिभाषा का प्रत्येक भाग उपयोगी है। इसका अन्य भाग अगले सूत्र में रखा गया कि यह अमृत-स्वरूपा है। भावार्थ यह है कि जागतिक सम्बन्ध अस्थायी (अनित्य) होते हैं। वे सम्बन्ध एक-न-एक बिन्दु पर समाप्त हो जाते हैं, जिसका सुस्पष्ट कारण यह है कि या तो प्रेमी ही विलुप्त हो जाता है, अथवा प्रेमास्पद ही विलुप्त हो जाता है। इसके अलावा, ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जो प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में आ जाती हैं और सम्बन्ध को अस्थायी बना देती हैं। इसलिये तीन ऐसे कारक हैं, जो परम प्रेम को चिरस्थायी बनाते हैं – प्रेम का लक्ष्य अविनाशी होता है, क्योंकि वे ईश्वर ही हैं। प्रेमी भक्त भी वहाँ तक अविनाशी होता है, जहाँ तक वह ईश्वर से अभिन्न रहता है। तीसरे, उसके और प्रेम के लक्ष्य के बीच में ऐसी कोई भी बाहरी परिस्थितियाँ नहीं हो सकतीं, जो उस सम्बन्ध को अस्थायी बना सकें। इसलिये यह भक्ति अमृत-स्वरूपा है। यह कभी नष्ट नहीं हो सकती। यहाँ प्रेमी, प्रेमास्पद और सम्बन्ध सभी अविनाशी हैं।

हमारे जागतिक प्रेम और ईश्वरोन्मुखी प्रेम में बहुत समानता है। प्रचुर समानता इस बात को लेकर है कि दोनों में ही हम सुख, आनन्द या प्रसन्नता का बोध करते हैं। इनमें अन्तर यह है कि जागतिक प्रेम नश्वर होता है; दूसरे, इसकी तीव्रता काफी अधिक होने पर भी सर्वोच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकती। तीसरे, यह ऐसी वस्तुओं की ओर उन्मुख होता है, जो स्थायी नहीं होतीं। अत: पार्थिव प्रेम के हमारे अनुभव में ये तीन तथ्य हैं, परन्तु दिव्य प्रेम के हमारे अनुभव में इनमें से एक भी तथ्य नहीं होते, क्योंकि वह उपर्युक्त तीनों विशेषताओं से मुक्त होता है। भक्ति के सही अर्थ को सुस्पष्ट रूप से समझाने के लिये ही दिव्य प्रेम का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

हम प्राय: सुनते हैं कि जब हमारा साधारण प्रेम ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाता है, तो वह दिव्य प्रेम या भक्ति हो जाता है। यह जरूरी नहीं है, क्योंकि उन्मुखीकरण काफी कुछ हमारे प्रयास पर निर्भर करता हैं, जबकि भक्ति हमारा प्रयास नहीं है, अपितु यह हमारा सार-स्वरूप है। अत: यह एक दूसरी विशिष्टता है – वस्तुत: भक्ति का यह अर्थ नहीं होता कि हम अपने ध्यान को ईश्वरोन्मुख करने का प्रयत्न करते हैं। निम्नतर अवस्थाओं में ऐसा हो सकता है, किन्तु भक्ति के परिपक्व हो जाने पर यह मन को ईश्वरोन्मुख करने तक ही सीमित नहीं रह जाता। तब यह मन को मात्र ईश्वरोन्मुख करना नहीं होता, अपितु मन को स्थायी रूप से ईश्वर में डुबा देना होता है। मन को ईश्वर में क्यों डुबा देना? क्योंकि ईश्वर ही इसके सार-तत्त्व हैं। भक्त, भक्ति का अभीष्ट और भक्ति-भावना – ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। इसलिये यही सच्ची भक्ति है, जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। हम इसे पहले बता चुके हैं, किन्तु इस बार हम इसके निहितार्थों को अधिक सुस्पष्ट तौर पर बता रहे हैं।

हम सच्ची भक्ति को कैसे समझें? इसकी व्याख्या अगले सूत्र में की गई है। इसको प्राप्त करके व्यक्ति सिद्ध (पूर्ण), अमृत (अविनाशी) और तृप्त हो जाता है। ये सब भी काफी महत्त्वपूर्ण लक्षण होते हैं।

❖ **(क्रमश:)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (३१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

काश्मीर जाने की तैयारी

वहाँ ४-५ दिन और रहकर ही लाहौर के लिये रवाना हो गया था। वहाँ से रावलपिण्डी गया, साथ में स्वामी अनुभवानन्द थे। लाहौर की कालीबाड़ी में उसके साथ भेंट हुई थी। वे भी अमरनाथ जा रहे थे। रावलपिण्डी में कालीबाड़ी में ठहरे। वहीं भिक्षा आदि करके उसी दिन शाम को हम लोग रामबाग चले गये। वह साधुओं के रहने के लिये ही बना हुआ एक अड्डा था। उन दिनों वहाँ दिन में एक बार – शाम को खाना मिलता था और सुबह सब अपनी-अपनी व्यवस्था कर लेते।

अनुभव के पास पैसे थे और मैं किसी प्रकार रावलपिण्डी पहुँच सका था। वह तो कुछ दिन बाद ही अन्य साथियों के साथ काश्मीर चला गया और मैं वहीं रह गया। मन-ही-मन पैदल जाने का निश्चय किया, क्योंकि 'एक सीट दिला दो राम' – करते हुए लोगों के द्वार-द्वार पर घूमने की प्रवृत्ति का मुझमें बिल्कुल अभाव था। यद्यपि अधिकांश साधु उसी युक्ति का उपयोग कर रहे थे। बहुतों ने इसी प्रकार बस में सीट की व्यवस्था कर ली थी।

इसी बीच एक दिन पंजाबी गृहस्थों की एक टोली रामबाग में पिकनिक करने आयी। मुझसे भी उसमें सम्मिलित होने का अनुरोध करने पर मैं भी उपस्थित रहा। वे लोग अमरनाथ के यात्री थे। बातों-बातों में पूछने पर मैं बोला – "मैं भी अमरनाथ का यात्री हूँ, परन्तु मैं पैदल-मार्ग का यात्री हूँ।" पास में पैसे नहीं है, यह भला मैं क्यों बोलता? और जब (पैसों के अभाव में ही) संकल्प कर लिया है, तो पैदल ही जाऊँगा। परन्तु इसका फल कुछ दूसरा ही हुआ। उन्होंने पूछा – "पैदल जाने में कोई लाभ है क्या?"

मैं बोला – "बहुत लाभ है। इससे पूरा काश्मीर प्रदेश देखना हो जायेगा। अनेक भावों के तरह-तरह के लोगों के साथ सम्पर्क होगा। इससे ज्ञान में वृद्धि ही तो होगी। आदमी, देश, मिट्टी, औषधि, वनस्पति, आचार-व्यवहार, रूप-रंग, संस्कृति – इन सबका ज्ञान होगा। और तीर्थ का ठीक-ठीक आनन्द तो पैदल जाने में ही है, क्या कहते हैं?"

एक सौम्य नेतृस्थानीय सज्जन विशेष आग्रह के साथ मेरी बातें सुन रहे थे। बोले – "ठीक कहते हैं, महाराज !" यह कहकर वे लोग आपस में बातें करने लगे और मैं अपनी कुटिया में चला गया। जाते समय देखा कि सभी यह निश्चित करके कि तीसरे दिन ही ऐबटाबाद के मार्ग से पैदल रवाना होना है और मुझे भी साथ चलना होगा – मुझे बताने आये हैं। उनमें से भगतजी (जो बाद में कनखल के निरंकारी अखाड़े के संन्यासी तथा महन्त भी हुए थे) और भगत हरिशा हजारा – ये दोनों विशेष आग्रह करने लगे। मैं राजी हुआ।

तीसरे दिन सुबह की ट्रेन से हम लोग तक्षशिला गये। वहाँ दर्शन आदि करने के बाद चलकर रात में हम लोग ऐबटाबाद पहुँचे। वहाँ हमने नये गुरुद्वारे में आश्रय लिया। सबके साथ रास्ता चलना बड़ा अच्छा लग रहा था। मेरे पास केवल एक पतला कम्बल, एक चादर, एक धोती और चोंगा, हाथ में दण्ड-कमण्डलु और गीता थी। और उन लोगों में से प्रत्येक के पास थी एक छोटी हल्की दरी, एक सेट एक्स्ट्रा धोती-कुरता, एक चादर, लोटा और लाठी – बस। वैसे गाँठ में यथेष्ट पैसे थे। बाद में पता चला था कि उनमें से एक ने अपने पास तीन हजार रुपये रखे थे। उनमें से अधिकांश व्यवसायी थे – कोई रावलपिण्डी का था, तो कोई पेशावर का, तो कोई अमृतसर के कालाबाग का था। कुल मिलाकर २१ लोग थे और मैं १ संन्यासी। बोझ खूब हल्का था और खूब आनन्दमय टोली थी। उनमें भगत हरिशा सबसे वृद्ध थे, आयु ७१-७२ साल की होगी। परन्तु विशालकाय बलिष्ठ देह है। शरीर में अद्भुत बल है। २-३ युवक जवानों को चित्त कर डालने की क्षमता रखते हैं। अद्भुत आदमी हैं। हरिपुर के जागीरदार हैं, रावलपिण्डी में दुकान है, बाद में लौटते समय पता चला कि वे प्राय: ही यात्रा करते हैं। साल में ८-१० लाख रुपयों का व्यापार करते हैं और उन्होंने ही निरंकारी अखाड़ा बनाने के लिये सर्वप्रथम डेढ़ लाख रुपये दिये थे। परन्तु ऐसे निरभिमानी व्यक्ति जीवन में खूब कम ही देखने को मिले हैं। आगे फिर उनका प्रसंग आयेगा।

ऐबटाबाद में तीन दिन निवास हुआ। वहाँ से निरंकारी मण्डली के और भी छह साधु आकर सम्मिलित हो गये। उन लोगों के लिये ही प्रतीक्षा की जा रही थी। हाँ, ऐसा निश्चित हुआ कि उन लोगों के लिये बाकी सामान के साथ दो रसोइये बस में बारामुला जाकर प्रतीक्षा करेंगे। अमरनाथ के मार्ग में

वे लोग ही रसोई आदि करेंगे। और इस रास्ते में स्वयं अथवा धन आदि देकर किसी अन्य के द्वारा करा लेना – यही निश्चित किया गया था। परन्तु ऐबटाबाद में उन कुछ दिन तो निमंत्रण ही खाया गया – सिख सम्प्रदाय तथा व्यापारी मण्डल ने खिलाया।

यहाँ से नियमित चलना आरम्भ हुआ। किसी-किसी दिन १२-१३ मील तक चलना होता और हर पड़ाव पर धर्मचर्चा होती। एक साधु भागवत पढ़ते। रास्ते में बारामुला पहुँचने तक केवल २-१ जगह ही भोजन पकाना पड़ा था, बाकी सभी स्थानों में सिख सम्प्रदाय ने गुरुजी का प्रसाद दिया था – हलुवा-पूड़ी या रोटी या फिर सब्जी-रोटी। उन लोगों का आतिथ्य देखकर पूर्वी भारत की स्मृति जागने लगी। इस पहाड़-विशेष – गोमेल[1] तक सिखों की संख्या ही अधिक है और वे खूब सम्पन्न हैं। गुलाब सिंह काश्मीर राज्य के संस्थापक हैं, उन्होंने इन लोगों को वहाँ लाकर बसा दिया। पहाड़ विशेष सुदृश्य न होने पर भी बुरे नहीं हैं। यहाँ गेहूँ अधिक नहीं होता, भुट्टा या मकई ही ज्यादा होती है। चावल-गेहूँ का प्रचलन कम है। अन्य सब्जियाँ बहुत कम होती हैं। स्वास्थ्यपूर्ण स्थान है। रास्ते में ज्यादा जंगल देखने को नहीं मिले। जोतदार लोग उदार, धर्माभिमान-पूर्ण, अतिथि-परायण हैं। पोशाक आदि सब पंजाबी है, वे सब लोग असल में पंजाबी हैं, कुछ काबुली पठान भी हैं। ऐबटाबाद नवसेरा – वहाँ वर्तमान में अंग्रेजों की एक बहुत बड़ी छावनी – कैंटोन्मेंट है। अद्भुत स्वास्थ्यकर स्थान है। ऐबटाबाद की ऊँचाई सम्भवत: मसूरी से थोड़ी कम होगी।

ऐबटाबाद के बाद से ही भगत हरिशा ने एक कार्य आरम्भ किया – प्रत्येक चट्टी में पहुँचते ही उनका पहला काम होता था – रास्ते की थकान उतारने के लिये सभी साधुओं की पदसेवा करना। पहले दिन तो मैंने खूब विरोध किया, परन्तु सारी युक्तियाँ विफल हो गयीं, किसी भी प्रकार उन्हें रोक नहीं सका। बिना कुछ कहे उन्होंने बलपूर्वक पाँव पकड़कर खींच लिया। उन्हें रोकने की भला किसमें क्षमता थी! अद्भुत शक्ति थी। एक पंजाबी साधु बलपूर्वक छुड़ाने लगे, पर आखिरकार उन्हें हार मानना पड़ा। अन्त में भगतजी (इन्होंने ही सारी व्यवस्था का भार लिया था) बोले – "आप कुछ नहीं कर सकेंगे, इन्हें जो खुशी करने दीजिये! उस दिन से रावलपिण्डी लौटने तक, १००-१५० मील के रास्ते में उनका यह कार्य नियमित रूप से जारी रहा। उसके बाद स्नान आदि करके या हाथ-पाँव धोकर गीतापाठ करते।

१. वहाँ एक हैंगिंग ब्रिज और ऐबटाबाद के सड़क के साथ रावलपिण्डी का मेन रोड़ जुड़ा है, रात में बसें ठहरती हैं, गोमेल सम्भवत: उसी का नाम है। यह विवरण २२-२३ साल बाद लिखी जा रही हैं। घटनाएँ खूब स्पष्ट रूप से याद हैं, स्थान-काल कुछ-कुछ विस्मृत हुआ है।

हम लोग उसी गोमेल को पार करके जा रहे थे, तभी खूब वर्षा शुरू हुई। इतनी वर्षा कि सबको भय होने लगा। उस समय हम लोग जिस स्थान पर पहुँचे थे, वहाँ कोई आश्रय न था – खड़ा पहाड़ मात्र था।

उस दिन सुबह से ही मेरा मन विशेष उदास था, कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। भगत हरिशा ने संगी होने का प्रयास किया, परन्तु मैंने कहा – मैं अपने भाव में अकेले चलना चाहता हूँ। इसीलिये वे पीछे हो गये। साधु लोग और शायद २-१ गृहस्थ भी आगे निकल गये थे, बाकी सब लोग पीछे थे – ज्यादा पीछे भी नहीं, परन्तु पर्याप्त दूरी पर थे।

मुसलाधार वर्षा हो रही थी। सहसा पहाड़ के ऊपर – रास्ते के काफी ऊपर मिट्टी धँसने लगी। इसके साथ ही मेरे चारों ओर भीषण वेग के साथ छोटे-बड़े पत्थर – जंगी पत्थरों के ढोके और कीचड़ गिरने लगे। – "गया, गया, भागो, भागो।" दूसरा कोई चारा न देखकर मैं मृत्यु की प्रतीक्षा में स्थिर होकर खड़ा हो गया। आगे-पीछे चारों ओर पत्थर और कीचड़ गिर रहे थे। भला किस ओर जाता! भागने के लिये कोई रास्ता नहीं था – मृत्यु ने रोक रखा है। २-१ मिनट के भीतर ही मेरे सामने-पीछे उनका ढेर एकत्र हो गया और रास्ता बन्द हो गया – मृत्यु ने ग्रास करके भी छोड़ दिया। शरीर पर जरा-सा भी कोई पत्थर या कीचड़ का ढेला नहीं लगा था। केवल कीचड़ के छींटे पड़े थे। जबकि एक पत्थर लगते ही एक मील नीचे नदी में जा गिरता – परन्तु जगदम्बा की इच्छा से वैसा नहीं हुआ। या फिर कहूँगा कि उन्हीं के मंगल-हाथों ने रक्षा की है। यही ठीक बात है, है न! भूस्खलन बन्द होने पर – लोग दोनों ओर से दौड़कर आये। पीछे से हरिशा बोल रहे थे – "स्वामीजी, जय नारायण! आप इधर चले आइये।" मैं – "नहीं, आगे ही बढ़ूँगा, पीछे नहीं हटूँगा!" एक सिख बस-ड्राइवर ने सामने से पगड़ी का छोर फेंक कर कहा – इसे पकड़कर आइये।"

दोनों पाँव प्राय: चलन-शक्ति से रहित हो गये थे। वे मृत्यु की आशंका से वे जड़वत् हो गये थे, या भय से? परन्तु भय तो लगा ही नहीं। और आशंका पहले से ही थी, शायद यही कारण होगा। कीचड़ के पहाड़ के ऊपर से होकर सुरक्षित स्थान में पहुँचकर अपने संगियों की प्रतीक्षा करने लगा। सभी कहने लगे – "भगवान ने ही बचाया है, इसमें तो निश्चित मृत्यु होने की बात थी!" सिख ड्राइवर भाई को धन्यवाद दिया। उसने आशीर्वाद माँगते हुए कहा – "यह तो फर्ज अदा किया।" सभी संगी एकत्र होकर एक ही बात कहने लगे – "Miraculous escape from sure death" – निश्चित मृत्यु से चामत्कारिक रक्षा।"

भगत हरिशा ने आकर कहा – "सचमुच स्वामीजी, एक भगवान को छोड़ दूसरा कोई भी ऐसी अवस्था में रक्षा नहीं

कर सकता। साधु-सन्तों के ऊपर उनकी बहुत कृपा है ! और आपने जो मुझसे कहा – आगे ही बढ़ूँगा, पीछे नहीं हटूँगा – वह मुझे बहुत ही अच्छा लगा है। जवानी में (पिताजी से झगड़ा करके घर से भागकर) कुछ दिन सेना में था, परन्तु वहाँ भी – सतर्क फौजी, आवश्यकता हो तो पीछे हट जाते, परन्तु वह मुझे अच्छा नहीं लगता था।

मैं – "ठीक कहते हैं, उसमें मानो दुर्बलता की गन्ध है। इसीलिये पहले राजपूत लोग पीठ नहीं दिखाते थे, बल्कि मृत्यु का ही वरण करते थे। उसमें महिमा है, परन्तु युद्ध-चातुर्य प्रबल हथियार है – अनेकगुने अधिक सैन्य-बल के विरुद्ध दुर्बल या कम-संख्यक युद्धकला का बोध नहीं है, चातुर्य का अभाव है, इसी के फलस्वरूप भारत का राजपूत-इतिहास रक्त-रंजित, परन्तु महिमा-मण्डित है। और इतने वर्षों से भारतवर्ष के गले में पराजय की शृंखला बँधी हुई है ! वैसे यही मूल कारण नहीं है। अच्छे-अच्छे युद्ध-धुरन्धर निपुण लोग थे, मूल कारण है – अनैक्य – एकता और संगठन का अभाव – उस बुद्धि का भी अभाव, आपस में अप्रीति, अविश्वास, दम्भ, दर्प, मान, – अपनी क्षमता के प्राचुर्य के बारे में भ्रान्त धारणा आदि आदि। परन्तु इस मामले में वह बात प्रासंगिक नहीं है – मैं संन्यासी हूँ और जीवन-युद्ध कब का मिट चुका है, केवल प्रारब्ध का प्रवाह या ईश्वर की इच्छा से सब चल रहा है, इसीलिये आगे चलना ही, आगे बढ़ना ही मेरा धर्म है। इसमें जाति या देश, इष्ट या अनिष्ट का कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल इतना ही सन्तोष है, इसीलिये बेपरवाह रहा जा सकता है।

भगत हरिशा – "क्यों, आप तो संन्यासी हैं, सन्त हैं, आपका जीवन अनेक लोगों के कल्याणार्थ है या नहीं?" मैं बीच में रोककर बोला – "आप जो कहना चाहते हैं, वह मैं समझ गया हूँ। यदि ईश्वर इस शरीर के द्वारा वैसा कुछ करायें, तो वे ही रक्षा भी करेंगे। अब सब कुछ उन्हीं के हाथों में हैं, इसलिये जीवन के लिये विशेष उद्यम या चेष्टा संन्यासी के लिये अशास्त्रीय और धर्म-विरुद्ध है। आप लोग करेंगे, पर कर्मफल ईश्वर को अर्पित करके करना ही बुद्धिमत्ता का कार्य होगा।" भगत हरिशा – "ठीक कहते हैं, गीता में भी यही कहा है। रास्ता चलते-चलते ये ही सब बातें हो रही थीं।

इसके बाद रास्ते में कोई कष्ट नहीं हुआ। अन्त में बारामूला के ५-७ मील पूर्व एक घटना हुई। इसमें भी तीन लोगों – दो साधु तथा एक गृहस्थ का जीवन संकट में पड़ा था। बारामूला के प्रसिद्ध व्यवसायी सरदार सन्तसिंह हमारे मेजबान थे। एक सरदार-ड्राइवर के द्वारा हमारे आगमन की और भोजन आदि तैयार रखने की सूचना उनके पास भेज दी गयी थी, क्योंकि यह कह पाना कठिन था कि हम लोग ठीक किस समय वहाँ पहुँचेंगे। उन्होंने कई तांगे भेजकर हमारा स्वागत किया। इस प्रकार कुछ मील हम लोगों ने तांगे की सवारी की। जिस तांगे में हम तीन लोग थे, उसके घोड़े को गरम और विशेष चंचल हुआ देखकर मेरी उस गाड़ी में चढ़ने की इच्छा नहीं हुई। परन्तु जो भी चढ़ेगा, उस पर संकट आ सकता है, इसीलिये उसमें हम साधुओं का चढ़ना ही ठीक होगा – यह सोचकर हम दो जन उसमें बैठ गये, परन्तु तीसरे साधु एक अन्य तांगे बैठ चुके थे, इसलिये वे नहीं आये, एक गृहस्थ बैठे। घोड़े ने शुरू से ही चारों पाँव उठाकर आड़ा-टेढ़ा दौड़ना आरम्भ किया और गाड़ीवान का उस पर कोई नियंत्रण नहीं रहा। जा रहा है, तो जा ही रहा है। मैं जोरों से पकड़कर बैठा हुआ था। एक छोटे पुल की दीवाल से चक्का धड़ाम से जा टकराया। संगी साधु छिटक कर जा गिरे और मैं तांगे का हैंडल पकड़कर लटका रहा। तांगावाला और वे गृहस्थ जबरदस्त झटका खाकर सम्भल चुके थे। सौभाग्यवश ईश्वर की कृपा से किसी को विशेष चोट नहीं आयी, केवल उन साधु के हाथ में थोड़ी-सी चोट आयी थी। इसके बाद उस घोड़े ने ज्यादा गड़बड़ नहीं की, परन्तु सन्तसिंह के घर तक तीर वेग से दौड़ा था।

सरदार सन्तसिंह अद्भुत दाता हैं। कहा जा सकता है कि उनकी मेजबानी की कोई सीमा नहीं है। उनके द्वार खुले रहते हैं – साधु, सन्त, गृहस्थ चाहे जो भी उनके घर आ जाये, उनका अन्न-भण्डार सर्वदा उन्मुक्त ही रहता है। सुबह से शाम तक निरन्तर – दीयताम् भुज्यताम् – की ध्वनि से उच्चरित होती रहती है। उनका अपना ही एक धर्मशाला भी है। साधु लोग जब तक इच्छा हो, उसमें रहते हैं। फिर अपने फल के बगीचे में उन्होंने एक कृत्रिम गुफा भी बनवाई है, उसमें भी साधु लोग अपनी इच्छानुसार रहते हैं। धर्मप्राण और कर्मवीर हैं। कश्मीरी वस्त्र – लोई और फल का विशाल कारोबार है। माँ लक्ष्मी दोनों हाथों से उन्हें दे रही हैं और वे भी दोनों हाथों से उसका सदुपयोग कर रहे हैं। धन्य हैं सरदार सन्तसिंह !

बारामूला में कुछ दिन विश्राम करने के बाद श्रीनगर की ओर प्रस्थान किया गया। रास्ते की बाकी चीजें देखने से रह गयीं, क्योंकि यात्रा का समय निकट आ चुका था। अमरनाथ-यात्री एक गुरुभाई ने (उनके साथ मुख देखने मात्र का ही परिचय था, तो भी) सरदार सन्तसिंह को एक पत्र लिखकर सूचित किया था कि मेरे पास गरम कम्बल आदि नहीं है, वह प्रदान करें और ऐसी व्यवस्था करें कि यात्रा में मुझे कष्ट न हो। उन्होंने वह पत्र मुझे दिखाया और पूछा कि वे क्या कर सकते हैं? वैसे जिन लोगों के साथ मैं जा रहा था, उनमें से कई लखपति भी थे, परन्तु उन लोगों के मन में ऐसा विचार नहीं आया था। जैसा कि हरिशा ने बाद में कहा था

कि उनकी धारणा थी कि जो कुछ मैं लेकर चला था, उससे अधिक नहीं रखता ! अस्तु। मैं इस शर्त पर एक मोटा कम्बल लेने को राजी हुआ कि यदि किसी कारणवश वह नष्ट नहीं हुआ, तो लौटते समय उसे लौटाता जाऊँगा। सरदार सन्तसिंह ने एक बड़ा (कश्मीरी) कम्बल देकर बोले – "स्वामीजी, इस बार वर्षा ज्यादा होने की सम्भावना है, यह आपके लिये आयल-क्लाथ या वाटरप्रूफ का काम देगा और गीली जमीन पर दो-तीन बार मोड़कर बिछाने पर पानी उसे भेदकर ऊपर तक नहीं आ सकेगा। धन्यवाद के साथ उसे ग्रहण किया और सचमुच ही जैसा उन्होंने कहा था, अमरनाथ के मार्ग में उसने वैसा ही काम दिया था।

श्रीनगर में दो दिन रहने के बाद ही हम लोग नाव के द्वारा इस्लामाबाद के रास्ते मट्टन (मार्तण्ड)* गये। वहाँ सभी यात्री प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दिन बाद ही यात्रा शुरू हो गयी। लौटकर श्रीनगर देखा जायेगा, ऐसा निश्चित रहा।

पहलगाम – तिब्बत से आने के मार्ग में काश्मीर का प्रथम प्राचीन ग्राम है। इसके मार्ग में ही मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई। वहाँ पहुँचने के बाद थोड़ा रुकी। लोगों ने जल्दी-जल्दी तम्बू आदि लगा लिये। हम लोगों के पास दो तम्बू थे। बड़े वाले में सभी गृहस्थ लोग और छोटे में पाँच साधु किसी प्रकार अँट जाते। बारामूला में निरंकारी अखाड़े के और भी छह साधु आकर हमारे साथ सम्मिलित हो गये थे। हाँ, एक बात का उल्लेख करना मैं भूल रहा हूँ – मार्तण्ड पहुँचकर पुन: रामदा तथा दयानन्द स्वामी से भेंट हुई। उन लोगों के साथ सि... महाराज और एक अन्य बृहत् तम्बू में अनुभव तथा मठ के साधु शशधर थे। हमारे दयानन्द ठाकुर के दो शिष्य (ऋषीकेश के) कैलाश मठ के कुमारानन्द स्वामी अन्य एक साधु – शंकरनाथ और उसी टोली के लीडर साधु शान्तिनाथ स्वयं थे। काशी मठ के अशोक म. से अलग तम्बू में तारानाथ म. और मनसा थे। एरिस्ट्रोक्रैट अशोक इन दोनों तम्बुओं से बहुत दूर ही रहते थे। उनके साथ परिचय या भेंट-मुलाकात नहीं था। सि... म. का तम्बू बगल में ही पड़ता था, परन्तु उन लोगों की सारी व्यवस्था अलग थी। और इन लोगों को 'कष्ट' होने पर भी, वे लोग अपनी अच्छी व्यवस्था करके चलते थे, ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। केवल साधु शान्तिनाथ के साथ ही बातचीत और चर्चाएँ हुआ करती थीं। इस टोली का सारा भार शान्तिनाथ जी के ऊपर ही था, क्योंकि एक स्वामी कुमारानन्द जी के सिवा बाकी सभी स्वल्प-मुड़ी श्रेणी के यात्री थे। शान्तिनाथ जी इन लोगों के साथ राज-सत्र (क्षेत्र) में भोजन करते थे। उनका सब कुछ राज-व्यवस्था से ही चलता था अर्थात् राजा की ओर से एक साथ व्यवस्था थी।

हमारी टोली का दिन भर में एक बार ही खाना पकता था। शाम को ही भोजन मिलता। मेरे पास शायद केवल १०-१२ आने मात्र ही थे। केवल राम का ही भरोसा था।

अति वर्षा होने के कारण पहाड़ी नदी का पानी अस्थायी रूप से खूब बढ़ गया। और काठ का पुल बह जाने से हम लोगों को पहलगाम में दो दिन पड़े रहना पड़ा – दूसरी व्यवस्था हो जाने पर जाना हुआ। दूसरे दिन वर्षा रुक गयी थी और धूप निकल आयी थी। भोजन आदि जल्दी हो जाने के कारण पास के गहन देवदार-वन में घूमने गया। इस देवदार-वन में ७-८ मील तक केवल देवदार का ही जंगल था। (बंगला में शिरीष के वृक्ष को देवदार कहते हैं, यह उससे भिन्न था।)

देवदार का अपना एक अलग ही सुगन्ध होता है – एरोमेटिक। उसके सूखे पत्तों से अच्छी धूनी होती है। पूरा जंगल उसके गन्ध से गमगमा रहा था। सभी वृक्ष देव-मन्दिरों के सदृश हैं – लम्बा शिखर और नीचे की ओर धीरे-धीरे आधार-स्थल पर बड़ा और गोल। लगता है मानो चाँदनी रात में एक साथ हजारों देव-मन्दिर हों और यदि उस जंगल के ठीक पीछे थोड़ी ऊँचाई पर ही – जिनका शिखर मात्र ही दिखाई दे रहा है, वैसा बरफ का पर्वत हो, तब तो ... अहा ! – शिव – शिव – महादेव – उनके सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता। 'नेत्रों से पान' करने की अवस्था में ही ठीक-ठीक वर्णन होता है। जिसके अन्दर कवित्व है, वह तो उस दृश्य को देखकर पागल हो जाता है। काश्मीर में ऐसे अपूर्व दृश्य हैं। जंगल में अपने मन से चला जा रहा था। प्रारम्भ में मेरे समान दो-एक जन दिखे थे, उसके बाद बिल्कुल निर्जन, कोई भी प्राणी नहीं है, केवल झिंगुरों की तान और बीच-बीच में हिमालय की एक प्रकार छोटी टुनटुनी चिड़िया की मधुर 'पिउ-पिउ' सुनने में आ रहा था। चला जा रहा था। अच्छा लग रहा था। भीतर एक तरह का दिव्य शान्त भाव था। नेत्र – मन देख रहे थे, परन्तु कुछ सोच नहीं रहे थे – अपने आप में डूबे हुए थे।

डेढ़-दो मील चला होऊँगा। देखा – पास ही एक विशाल खाई है – जंगल का एक किनारा समाप्त होता है – नदी, उसके बाद छोटे-छोटे पर्वत-शिखर, उसके बाद बिल्कुल श्वेत बर्फ से ढँका विशाल हिमशिखर ! अस्ताचल-गामी सूर्य की आभा उस पर सात रंगों की लीला रचना कर रही थी। इसके बाद वह पीला हुआ, कच्चे सोने के समान – गौरी – गौरी – लगता है ये ही गौरी हैं, शिव के साथ मिल रही हैं ! अतृप्त नयनों से गौरी-मिलन देखने के लिये उस खाई के पास बैठने को जाने लगा। देवदार के वृक्षों के भीतर से झाँकते हुए वह रूप मन को मोह रहा था। उसके खुले घूँघट को देखने के लिये तेजी से जा रहा था।

* प्राचीन सूर्य मन्दिर, अब खण्डहर मात्र ही शेष है।

सहसा देखा कि पास ही खाकी रंग के दो छोटे-छोटे तम्बू लगे हुए हैं। एक दाढ़ीयुक्त खानसामा तम्बू के सामने खड़ा-खड़ा मेरी ओर देख रहा था और पास ही एक श्वेतांगिनी युवती महिला एक स्टूल पर बैठी सामने पेंटिंग-स्टैंड पर झुकी हुई एकाग्र चित्त से उस दृश्य को तूलिका की सहायता से कागज पर उतारने की चेष्टा में डूबी हुई थी।

इस प्रकार का दृश्य अल्प काल के लिये ही होता है और उसमें कोई बाधा न पड़े, यह सोचकर मैं दूसरी ओर जा रहा था। यह देखकर खानासामा ने पास आकर पूछा – मैं मेम साहबा से भेंट करना चाहूँगा या नहीं! इसी बीच एक अन्य खानसामे ने तम्बू के बाहर आकर दर्शन दिया। मैं बोला – "नहीं, इस समय मिलने की कोई विशेष जरूरत नहीं है!" इसके बाद मैंने पूछा – "इस जंगल में वे क्यों हैं? किस साहब के साथ आयी हैं?" वह बोला – "ये एक सैन्य अधिकारी की पुत्री हैं, इन्हें टी. बी. (क्षयरोग) हुआ है। डॉक्टर के निर्देशानुसार ये इस बर्फीले स्थान पर देवदार की वायु में निवास कर रही हैं। डॉक्टर ने कहा है कि रोग इसी से ठीक हो जायेगा। ये यहाँ आकर बहुत अच्छी तरह हैं।" मैं – "इस जंगल में? साथ में और कौन है?" – "हम दो जन हैं और बन्दूक है। एक किसी काम के लिये गाँव जाता है, तो दूसरा हर समय हाजिर रहता है।" देखा – युवती श्वेतांगिनी है, चित्र बना रही है, परन्तु कमर में क्रीच बँधा हुआ है और पास में राइफल भी रखा हुआ है! धन्य हो! इसी आयु में इतना साहस! दो पूर्णतः भिन्न जाति के पुरुषों के साथ इस घने जंगल में रहने का साहस! आत्मरक्षा की व्यवस्था हो, तो भी हमारे पुरुष लोग ही भय पायेंगे और महिलाओं की बात ही क्या है! (पहाड़ी नर-नारियों की बात मैं नहीं कहता, क्योंकि वे इसके अभ्यस्त हैं।) उसके इस रूप तथा यौवन के साथ ऐसा साहस भी है! यदि इसके सन्तान हो, तो वह सन्तान कैसी होगी? जिसकी माँ भय न जानती हो, उसकी सन्तानें कैसी होंगी? हाय, यदि बंगाल की माताएँ ऐसी ही साहसी होतीं! यदि महिलाओं में ऐसा साहस हो, तो देश का रूप बदल जायेगा। जब तक अंग्रेज महिलाएँ इस प्रकार निर्भीक रहेंगी, तब तक उस जाति को कोई भय नहीं है, उस जाति में वीरत्व का अभाव न होगा। राजपूत नारियाँ जब तक वैसी निडर थीं, तब तक उनके घरों में वीरता की कमी नहीं दिखाई दी। हाय, बंगाल की महिलाओ, तुम कब इस प्रकार निडर और वीर-जननी होओगी?

"मिलने से मेम साहबा खुश होंगी" – कहने पर भी मेरी इच्छा नहीं हुई। मैं स्वदेश, स्वजाति और भारतवासियों के बारे में सोचते हुए लौटा। क्योंकि सूर्यदेव अपना शरीर ढँक चुके थे, उस रूप का खेल समाप्त हो चुका था, केवल थोड़ी-थोड़ी रोशनी थी। सुदीर्घ अज्ञात वनमार्ग से होकर वापस लौटना था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

जीव ही शिव

जितेन्द्र कुमार तिवारी

जन की सेवा, शिव की पूजा ।
युग-शिव-पूजन और न दूजा ।।

जन-जन में शंकर बसते हैं,
दुख-सुख में रोते-हँसते हैं,
पर हम मिथ्या नाम-रूप से
माया चंगुल में फँसते हैं;
शिव संकल्पित सृष्टि हुई है ,
शिव-पूरित संसार समूचा ।।

जो दुखियों के दुःख न हरते,
लोगों में विश्वास न भरते,
होती उनकी जीवन-यात्रा,
यहाँ निरर्थक जीते-मरते ।
जीवन पर-हित में ही बीते,
पर-सेवा है शिव की पूजा ।।

सबके दुख को समझे अपना,
छोड़े निज के सुख का सपना,
जीओ औ जीने दो सबको,
क्यों स्वारथ-ज्वाला में तपना ।
शिव से भरा हुआ जग सारा
गली-गली औ कूचा-कूचा ।।

जन-सेवा है शिव की पूजा,
शिव का पूजन और न दूजा।।

ईशावास्योपनिषद् (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

हम विचार करके देखेंगे, तो अनुमान होगा कि ऐसी पूर्णता केवल शक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव से ही प्राप्त होती है। जब कभी हमें सत्य का संकेत मिलता है, तो हम पायेंगे कि उपनिषदों में जो बातें लिखी गई हैं, वे मनुष्य-जीवन के अनुभव की बातें हैं। केवल उनका हमें पुन: स्मरण करना है। यदि उनकी स्मृति आ जाय तो उससे हमारे जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ जायेगा। हमारा जीवन धन्य हो जायेगा।

उपनिषदों में जीवन के मौलिक तत्त्वों की चर्चा है। भारतीय तत्त्वज्ञान का आधार वेदान्त है। मानव-जीवन और संसार के मौलिक तत्त्वों की चर्चा उपनिषदों में आती है। मौलिक तत्त्वों की चर्चा उपनिषदों में होने के कारण इनका सम्बन्ध मानवीय जीवन से निकटतम है। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन से निकट सम्बन्ध है। क्योंकि समाज व्यक्तियों से बनता है। यदि व्यक्ति सुघड़ और सन्तुलित है तो समाज भी सुघड़ और सन्तुलित होगा। व्यक्ति कैसे सुघड़ और सन्तुलित हो सकता है? जीवन की समस्याओं के समाधान का मूल आधार क्या है? इसे ये उपनिषद हमें बताते हैं।

हम गणित का उदाहरण लें। गणित का सारा प्रयोग मूल संख्या १ से ९ तथा शून्य से है। यदि हम गणित के विद्यार्थी नहीं हैं, किन्तु कोई गणित का शिक्षक हमें कहे कि गणित का सब कुछ १ से ९ तक की संख्या तथा शून्य पर ही निर्भर है और यदि हम इसे समझ जायँ तो व्यवहार में हमें कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी। सारे गणित का भवन १ से ९ तक की संख्या और शून्य पर खड़ा है। यह गणित का मौलिक तत्त्व है।

वैसे ही, जीवन के मौलिक तत्त्व ही इन उपनिषदों में कहे गये हैं। यदि हमने उन मौलिक तत्त्वों को समझ लिया, तो उन तत्त्वों का अपने जीवन में हम आचरण कर सकते हैं। दूसरों के जीवन को भी समझ सकते हैं। जो दृश्य जगत हमें दिख रहा है, उसका विश्लेषण हम कर सकते हैं और इन विश्लेषणों के द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। इसलिये उपनिषदों को पढ़ना और सुनना चाहिये।

एक बात स्मरण रखना आवश्यक है कि हम उपनिषदों को कब और कहाँ प्रमाण मानें? हम किसी को कब प्रमाण मानते हैं? दो तथ्यों से हम परिचित हैं। उदाहरणार्थ – मान लीजिये मेरे दाँत में दर्द है, तो मैं दाँत के डॉक्टर के पास जाऊँगा। वे कहेंगे कि इसका रूट केनॉल करवा लेने से दर्द दूर हो जायेगा। मेरे पूर्व कई लोगों के रूट केनॉल उन्होंने किया और उनके दर्द दूर हो गये। डॉक्टर पर मेरा विश्वास है, इसलिये मैंने इसे मान लिया। वे जैसा कहते हैं, वैसा मैं करवा लेता हूँ। डॉक्टर की बात पर मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ और ठीक हो जाता हूँ। इसको कहते हैं 'आप्तवचन या आप्त प्रमाण', अनुभवी पुरुष की बात को मान लेना।

दूसरा उपाय यह है कि मैं शास्त्रों को पढ़ूँ। जैसे मैं दन्त-चिकित्सा की पुस्तक पढ़ लूँ, जिसमें रूट केनॉल के बारे में विस्तार से बताया गया है। वह सब पढ़कर मैं समझ सकूँ तथा उस पर विश्वास कर प्रयोग कर सकूँ, तो उससे मुझे लाभ होगा। यही है आप्त पुरुषों में और शास्त्रों में विश्वास। तीसरी बात जिसके कारण ये उपनिषद इतने महत्वपूर्ण लगते हैं। उपनिषदों में जो तत्त्व हैं उनका ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। जैसे सामने आम का पेड़, इमली का पेड़ है। यदि कोई व्यक्ति मुझे कहे कि ये सामने इमली का पेड़ है, इसमें आम फलता है, तो इसके लिये कोई किताब पढ़कर जाँच करने की आवश्यकता नहीं है। थोड़ी प्रतीक्षा करें। मौसम आयेगा तो दिख ही जायेगा कि इमली के पेड़ में आम नहीं फलता, बल्कि आम के पेड़ में आम ही फलता है। इसकी परीक्षा के लिये ग्रन्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इसे कहते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण।

यदि हमारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तो भोजन नहीं पचता है। इसके लिये हमें वेद या उपनिषद पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। हम चिकित्सक से परामर्श करके दवाई लेकर स्वस्थ हो सकते हैं। जिन तथ्यों को, सत्यों को हम इन्द्रियों और मन के द्वारा जान सकते हैं, उसके लिये उपनिषदों के पास जाने की आवश्यकता नहीं है।

सत्य को देखने के दो प्रकार होते हैं

१. इन्द्रियगम्य – यह जगत जैसा हमको दिखता है, यह भी सत्य का एक प्रकार है। यह लकड़ी कड़ी है और फूल नरम है, इसके लिये किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। हम हाथ से स्पर्श कर देख सकते हैं कि लकड़ी कड़ी है और फूल नरम है।

२. किन्तु बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम मन और इन्द्रियों से नहीं जान सकते। कैसे? जैसे – पुनर्जन्म की बात। हम इस जन्म के पहले भी थे और यदि मुक्ति नहीं मिली तो मरने के बाद दूसरा जन्म फिर से लेंगे। इसका ज्ञान हमें न तो किसी इन्द्रियों से होता है और नहीं मन से होता है। इन बातों पर विश्वास करना हो, तो उपनिषदों में जो साधन बताये गये हैं, उनका अभ्यास करने पर हम इन तथ्यों को जान सकेंगे। उपनिषदों की यह घोषणा है कि यदि तुम्हारे हृदय की सभी ग्रन्थियाँ खुल जायँ, तो तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति होगी। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह कहता है कि सब ग्रंथियों को खोल दो। इन ग्रंथियों से अगर तुम मुक्त हो जाओ तो तुम परमसुखी हो जाओगे। तुम अपनी इच्छाओं को दबाते हो इसलिये ये ग्रंथियाँ बनती हैं, फ्रायड ने ऐसा कहा है। सभी इच्छायें कैसे पूर्ण हो सकती हैं? सब इच्छाओं की पूर्ति करने का लोभ सारे यूरोप में फैल गया और आज भारत में भी इस प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। उपनिषद में लिखा है –

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षियन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

जो परम सत्य है, जिसे हम मन और इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकते, उसके विषय में ये उपनिषद हमें संकेत दे रहे हैं। यदि हम उस सत्य को जान जायेंगे तो हम सभी दुःखों से मुक्त हो जायेंगे। इसलिये उपनिषद का सीधा सम्बन्ध हमारे जीवन से है। जीवन के जो मौलिक तत्त्व सत्य हैं, उस ओर उपनिषद संकेत करते हैं।

'परम सत्य' एक ही है। इसके अतिरिक्त जो सत्य है वह 'सापेक्ष सत्य' है। 'सापेक्ष सत्य' क्या है? एक व्यक्ति ६ फीट ऊँचा है और दूसरा ५.५ फूट ऊँचा है। दोनों ही सत्य है। किन्तु जब हम कहते हैं कि एक व्यक्ति ६ फीट ऊँचा है, दुनिया में दूसरा कोई भी इतना ऊँचा नहीं है, तो यह गलत है।

दूसरा उदाहरण दिशाओं का लें – यदि आप पश्चिम से आ रहे हैं, तो पूर्व की ओर जाकर आप आश्रम में पहुँचेंगे और जो पूर्व की ओर से आ रहा है, वह तो पश्चिम की ओर जाकर आश्रम में पहुँचेगा। यदि हम यह बात कहें कि आश्रम में पूर्व से पश्चिम की ओर ही जाया जा सकता है, तो हम सत्य से विरत हो गये। क्यों? क्योंकि यह सापेक्ष सत्य है, निरपेक्ष सत्य नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान सदैव सापेक्ष होगा। इन्द्रियों के द्वारा होने वाला सत्य का अनुभव सदैव सापेक्ष होगा। इसलिये इस सापेक्ष सत्य में अवश्य भेद होगा। जब हम उपनिषद के पास जायेंगे तो सारे ज्ञान का निचोड़ क्या है, यह हमारी समझ में आ जायेगा।

हमने जो इस उपनिषद का पहला मन्त्र पढ़ा है –

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

– वह परब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा पूर्ण है। यह दृश्य जगत भी पूर्ण है। पूर्ण से ही इस पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। यदि पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लिया जाय तो पूर्ण ही बचेगा।

संसार का इतना महान सत्य इस मन्त्र में कहा गया है जिसे जानकर आश्चर्य होता है कि ये ऋषि कितने महान थे, जिन्होंने इस अध्यात्म-ज्ञान को परिपक्व रूप में हमारे सामने रखा है। इसके पहले हम पूर्ण की धारणा कर लें।

पूर्ण का क्या अर्थ है? पूर्णता यह ज्ञान का परिपाक है। जो अभेद है। जिसमें कोई भेद नहीं है। उदाहरण – एक पूर्ण आम लिया और उसको काट दिया, तो वह पूर्ण आम अभी अपूर्ण हो गया। जो पूरा था, वह आधा हो गया। विश्व के सन्दर्भ में हम देखें तो पूर्ण का सबसे अच्छा उदाहरण हमें जो देखने को मिलता है, वह शून्य है। शून्य में शून्य जोड़ें तो शून्य होगा, शून्य में से शून्य घटायें तो शून्य ही बचेगा। शून्य में शून्य से गुणा करेंगे तो भी शून्य ही रहेगा। यह जो पूर्णता है, यह ब्रह्म की या ईश्वर की पूर्णता है। यह शून्य नहीं है, यहाँ कोई कमी नहीं है, न छोटा है, न बड़ा है, न कम है, न अधिक है, न ऊँचा है, न नीचा है। ऐसा जो पूर्ण है, उसकी पहचान यह है कि इसमें कोई भेद नहीं है।

अपूर्ण माने भेद। पूरा आम और कटा हुआ आम, इसमें भेद है। जहाँ भी अपूर्णता है, वहाँ भेद है। गहराई से सोचने पर आप पायेंगे कि भेद से ही हम सोच सकते हैं। जैसे – काला-गोरा, पीला-नीला, छोटा-बड़ा, ठण्डा-गरम, कड़ा-नरम – ये सब भेद हैं। भेद के बिना हम सोच नहीं सकते। विभिन्न प्रकार के भेदों को सोचकर समझने की हमारी प्रवृत्ति है। अपने सम्बन्ध में ही देखें, तो हाथ अलग है, दोनों कानों में भी भेद है, सारे शरीर में भेद है। यह जो भेद है, वह पूर्ण नहीं है, कहीं-न-कहीं कमी है। जहाँ कमी है, वहाँ कभी भी हमें शान्ति नहीं मिल सकती। आप विचार करके देखें – यदि एक कान कट जाय, (यह हम कभी नहीं चाहते,) और हम एक कान से सुने तो अच्छा नहीं लगता, विरक्ति लगती है। हम पूरा का पूरा चाहते हैं। कहीं भी अगर यह अपूर्णता है तो यह अपूर्णता हमें शान्ति नहीं देती।

इसलिये ऋषि कहते हैं 'इदं पूर्णम्' – इस जगत को जिसे हम देख रहे हैं यह भी पूर्ण है। यह जो संसार है उसके मूल में भी पूर्णता है। पूर्णत्व का एक विशेष लक्षण है कि उसमें भूत और भविष्य नहीं होता है, वर्तमान होता है। वह कालातीत है। उसमें काल का व्यवधान नहीं होता है। वह देश, काल और पात्र से मुक्त है। जिसमें किसी भी अभाव

की कल्पना भी नहीं हो सकती, जो देश-काल-पात्र से रहित है, ऐसा जो तत्त्व है वह पूर्ण है, वह सर्वत्र है, सर्वदा है। इसलिये वह अपरिवर्तनशील है। यदि उसमें परिवर्तन होगा तो वह सर्वत्र, सर्वदा नहीं रहेगा। आप हम बीस साल पहले जैसे थे, वैसे अभी नहीं हैं, यह परिवर्तन है। किन्तु जो जैसा का तैसा रहेगा, इसका ही नाम पूर्ण है। इस पूर्ण का दूसरा नाम है परम सत्य। इसी पूर्ण को उपनिषद में ब्रह्म कहा गया है। उस पूर्ण से 'यह' पूर्ण निकला है। हम सबका यह अनुभव है कि जिस बात का आभास हमको होता है, जिसकी झलक हमें दिखती है, जब तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो झलक मिट जाती है और तत्त्व रह जाता है। कैसे?

अगर आप आश्रम में आ रहे हैं। बहुत भीड़ है या प्रकाश कम है, किन्तु दूर से आपको आभास हो रहा है कि आपके मित्र आ रहे हैं, पर ज्योंहि आपके मित्र आपके निकट आये, त्योंही आपको अनुभव हुआ कि ये तो मेरे मित्र ही हैं। तब आभास सत्य में परिणत हो जाता है। अगर आभास असत्य में परिणत हो, तो वह आभास भी असत्य था। एक रस्सी पड़ी थी और हमने उसे साँप समझ लिया और डरकर चिल्ला उठे। कोई व्यक्ति टार्च लेकर दौड़ा तो देखा कि वह साँप नहीं रस्सी है। यह आभास मिथ्या था। यदि आभास सत्य में परिणत हो तो वह सत्य है, नहीं तो आभास भी गलत हो जायेगा।

इस अनुभव के आधार पर जो कुछ बचा, जो आभास सत्य में परिणत हुआ, वह भी सत्य ही था। वह पूर्ण, इस पूर्ण का जन्मदाता है। इदं, यह जगत भी पूर्ण है। जो निकट है, उसे समझने में अपेक्षाकृत सुविधा होती है। मंगल ग्रह को जितनी अच्छी तरह से समझ पा रहे हैं, उससे अधिक अच्छी तरह हम पृथ्वी को समझ पा रहे हैं, क्योंकि पृथ्वी पास में है। इसी प्रकार जो भी तत्त्व हमारे निकट है, उसे समझने में, विश्लेषण करने में हम सहज समर्थ हो सकते हैं। अदः – जो दूर है, उसे समझने में बड़ी कठिनाई होती है। उपनिषद यह कहते हैं कि पूर्ण से ही यह पूर्ण निकला है। इस पर विचार करें, प्रयोग करें। उपनिषद कहता है – पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते – उस पूर्ण अदः से यह पूर्ण इदं निकला है। इस संसार से लेकर ब्रह्मलोक तक इदं, यह है। इस इदं में सबसे पहले हमें अपने अस्तित्व का बोध होता है। इस पूर्ण से यह संसार निकला है। इस संसार का मुझे अनुभव हो रहा है। मैं ही यह हूँ। अपने से अगर हम शुरू कर देंगे, तो इदं में मैं ही प्रथम आता हूँ। पहले मैं हूँ फिर संसार है। मैं न रहूँ तो संसार नहीं रहेगा। अपने से प्रारम्भ करेंगे, तो दिखेगा की इस यह में हम पहले हैं। इस पूर्ण से मैं बना हूँ। पूर्ण दो नहीं हो सकता, एक ही हो सकता है। इसलिये निकलने के पहले तुम पूर्ण में थे। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते – पूर्ण से पूर्ण निकालने से, शून्य से शून्य को निकालने से शून्य ही बचता है। जब हम पूर्ण से उत्पन्न हुये, तब हम पूर्ण ही हैं। समस्या बाद में यह आती है कि हम पूर्ण ही हैं, तो इसका अनुभव क्यों नहीं होता? उपनिषद यह कहता है कि पहले तुम स्वीकार करो कि तुम पूर्ण हो। तुम्हें पूर्णता की विस्मृति हो गयी है और अपूर्णता की स्मृति हो रही है। कैसे? – मैं शरीर हूँ, मन हूँ, पिता-पुत्र-स्त्री-माँ, ये सब मैं हूँ, इत्यादि जो योजनायें, जो व्यक्तित्व हमारे जीवन के सामने दिखता है, वह इस अपूर्णता से परिपूर्ण है। अज्ञान के कारण अपूर्णता में हम एकदम मग्न हो गये हैं।

किन्तु हम देख रहे हैं कि इस जगत में हमको पूर्णता की अनुभूति नहीं हो रही है। हम स्वयं उस पूर्णता से आये हैं, किन्तु दिन-रात अपूर्णता का बोध कर रहे हैं और उस अपूर्णता को दूर करने के लिये भाग रहे हैं। आइये, देखते हैं कि सत्य क्या है? ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुरखों की थाती

कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कस्य हेतुः सुखस्य वा ।
स्वपूर्वार्जित-कर्मैव कारणं सुख-दुःखयोः ।।

– इस संसार में न तो कोई किसी के दुख का कारण है और न कोई किसी के सुख का कारण है; पूर्व तथा इस जन्म में अर्जित पाप-पुण्य रूपी कर्मफल ही सुख-दुखों के कारण हैं।

किमशक्यं बुद्धिमतां किमसाध्यं निश्चयं दृढदधताम् ।
किमशक्यं प्रियवचसां किमलभ्यमिहोद्यमस्थानम् ।

– बुद्धिमान के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, दृढ़-निश्चयी के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है, मधुरभाषी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है और उद्यमी लोगों के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ।।

– बुद्धिमान व्यक्ति ऐसे कार्यों को तत्काल शुरू कर देता है, जिनका मूल अर्थात् आरम्भ छोटा और फल महान् होता है। उसमें वह विघ्न नहीं आने देता।

क्रोध एव महान् शत्रुः तृष्णा वैतरणी नदी ।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ।।

– इस संसार में क्रोध ही महान् शत्रु है, कामनाएँ ही वैतरणी नदी है, सन्तोष ही आनन्द-वन है और शान्ति ही कामधेनु है।

दैवी सम्पदाएँ (६) यज्ञ

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

गीता की दैवी सम्पदाओं में यज्ञ एक ऐसी सम्पदा है, जो हमारी समूची संस्कृति का प्रतीक और हमारे धर्म का मेरुदण्ड है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि कल्प के आरम्भ में जब सृष्टि की रचना की जा रही है थी, तब सहस्त्र-संवत्सरीय यज्ञ का अनुष्ठान हुआ था। जब पद्मनाभ विष्णु ने पद्मयोनि ब्रह्मा को सृष्टिचक्र के प्रवर्तन का आदेश दिया, तब ब्रह्मा ने पूछा – "प्रभो, मैं सृष्टि कैसे रचूँ?" भगवान ने उत्तर दिया – "तुम यज्ञ करो। इससे तुम्हें शाक्ति प्राप्त होगी।" गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – हे अर्जुन, कल्प के आदि में प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही जीवों की सृष्टि की थी और उन्हें आदेश दिया था कि तुम इस यज्ञ का अनुष्ठान करो। इससे तुम्हे काम्य वस्तुओं की प्राप्ति और तुम्हारी वृद्धि होगी –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा
पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम्
एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को तृप्त करो, बदले में वे वर्षा आदि के द्वारा अन्न आदि उत्पन्न करके तुम्हें सन्तुष्ट करेगें। इस प्रकार एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम कल्याण प्राप्त करोगे –

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

भगवती श्रुति कहती हैं – देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान किया और यज्ञकर्म मनुष्यों के प्राथमिक कर्त्तव्य निर्धारित किये गये – **यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन।** शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्रजापति ने देवों से कहा कि यज्ञ तुम्हारा अन्न है। यज्ञ ही देवों का सुनिश्चित अन्न है – **प्रजापतिर्देवान् अब्रवीत् यज्ञो वोऽअन्नम्। यज्ञः उ देवानाम् अन्नम्।** देवता जो कुछ करते हैं, वह यज्ञ की ही शक्ति से ही करते हैं – **यदु ह किञ्च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव ते कुर्वते। यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैव तत्कुर्वते।** यज्ञ के नष्ट हो जाने पर देवों का विनाश और तत्पश्चात् सर्वनाश हो जाता है – **यज्ञे नष्टे देवनाशः ततः सर्वं प्रणश्यति** (वायु-पुराण, ६०/६)। देवता यज्ञों से पुष्ट होते हैं – **यज्ञैराप्यायिताः देवाः** (विष्णु-पुराण, १/६/८)। यज्ञ के कारण ही देवता स्वर्ग में रहते है – **यज्ञेन हि देवाः दिवंगताः।** यज्ञ का उद्‌भव कर्म से होता है – **यज्ञः कर्म-समुद्भवः** (३/१४); **कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्** (४/३२)। कर्म का प्रतिपादन वेदों ने किया है और वेद अक्षर अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न है। इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में सदा प्रतिष्ठित है (३/१५)। वह यज्ञरूप है – **यज्ञो वै-विष्णुः** और यज्ञ से ही प्राप्तव्य है।

ईश्वर यज्ञाङ्ग, यज्ञात्मक, यज्ञरूप, यज्ञेश्वर और यज्ञमय हैं। श्रीमद्-भागवत (३/१४/३४-३९) में भगवान यज्ञ-वराह के अंगोपागों में यज्ञ के घटकों की प्रतीक-योजना है। और बृहदारण्यक-उपनिषद् में यज्ञ की अश्व के रूप में कल्पना की गई है।

यज्ञ एक प्रतीक है – हमारे त्याग और समर्पण का, श्रद्धा और विश्वास का, साधना और निष्ठा का, प्रकृति और पुरुष की अनवरत क्रियाओं का, ऋतु और सत्य का, अग्नि और सोम नामक दो तत्त्वों के सम्मिलन का। यज्ञ एक साधन है, जिसके द्वारा जीवात्मा परमात्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं समर्पण की भावना ज्ञापित करता है। **सर्व खल्विदं ब्रह्म** – यह सब कुछ ब्रह्म ही है – यज्ञ से यह व्यापक दृष्टि मिलती है, क्योंकि अग्नि, हविष्य, आज्य, समिधा, यज्ञपात्र, मंत्र, देवता, यजमान, पुरोहित, दक्षिणा और दीक्षाफल आदि यज्ञ के जितने भी प्रमुख कारक हैं, वे सभी परमात्मा के ही रूप हैं। अग्नि उस विराट् पुरुष से उद्‌भूत है – **मुखात् अग्निः अजायत।** अग्नि में जो तेज है, वह उन परमात्मा का ही है – **यत् च अग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्** (१५/१२)। प्राणियों के उदर की वैश्वानर कहलाने वाली अग्नि भी परमात्मा का रूप है। यही वैश्वानर चार प्रकार के अन्नों को पचाता है (१५/१४)। इस प्रकार हमारे शरीर के भीतर ही यज्ञ-प्रक्रिया सतत संचालित है। परमात्मा यज्ञरूप हैं। अत: वे यज्ञ, क्रतु, स्वाहा, वनस्पतियाँ (हविष्य-सोम), मंत्र, आज्य और अग्नि हैं। वे हवन-रूप क्रिया भी हैं। प्रणव तथा वेदरूप हैं (९/१६-१७)। अर्पण, इवि, हवन की गई सामग्री तथा यज्ञफल भी ब्रह्म हैं (४/२४)। **अर्प्यते**

अनेन – जिससे अर्पण किया जाय स्रुवा आदि, **अर्प्यते अस्मै इति अर्पणम्** – जिसे अर्पित किया जाय वह देवता, **अर्प्यते अस्मिन्** – जिसमें अर्पित किया जाय वह अग्नि – सभी ब्रह्म हैं। इस प्रकार ब्रह्म-बुद्धि होने पर व्यक्ति-यजमान को ब्राह्मी स्थिति हो जाती है और वह अन्त काल में भी मोह को प्राप्त नहीं होता तथा ब्रह्म में पहुँच जाता है।

यज्ञों के प्रकार

ब्राह्मण, श्रौत तथा गृह्य-सूत्रों में अनेक प्रकार के यज्ञों का सांगोपांग वर्णन है। स्मृतियों तथा कल्प-सूत्रों में स्मार्त एवं श्रौतकर्मों की संख्या इक्कीस है –

(क) पाक-यज्ञ संस्था – औपसन होम, वैश्वदेव, पार्वण अष्टका, मासिक श्राद्ध श्रवण शूलगव = ०७

(ख) हविर्यज्ञ – दर्शपूर्णमास्य, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादिक, दर्विहोम = ०७

(ग) सोम-संस्था – अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम = ०७

(घ) पंचमहायज्ञ –

(१) ऋषियज्ञ – इसे ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय एवं संध्योपासन – दो कर्म आते हैं।

(२) देवयज्ञ – इसे अग्निहोत्र भी कहते हैं। इसे सायं-प्रात: दोनों समय करना चाहिए।

(३) भूतयज्ञ – यह बलि-वैश्वदेव के नाम से भी जाना जाता है। भोजन के पूर्व यह महायज्ञ किया जाता है। पूर्व में मिष्टान्नादि की कुछ आहुतियाँ छोड़ी जाती हैं। फिर निर्धन बुभुक्षु तथा पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि को भोजन देकर सन्तुष्ट किया जाता है।

(४) नृयज्ञ – इसे अतिथि-यज्ञ भी कहते हैं। अतिथि सत्कार करना नृयज्ञ है। अतिथि-सत्कार की अपार महिमा वर्णित है। महाभारत (अनुशासन-पर्व, ७/६/१२) के अनुसार – अतिथि को प्रसन्न दृष्टि और मन से देखना, मधुर बोलना, भरपूर स्वागत करना, पास बैठना और जाने पर उसे दूर तक पहुँचाना – ये पाँच प्रकार की दक्षिणा से युक्त यज्ञ है। पैर धोने के लिए जल देना, आसन, दीप, भोजन और आश्रय देना – ये भी इस अतिथि-यज्ञ की पाँच दक्षिणाएँ हैं।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्यात् वाचं दद्यात् च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः।
पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम्।
दद्याद् अतिथिपूजार्थं स यज्ञः पंचदक्षिणः।।

(५) पितृयज्ञ – माता-पिता, आचार्य आदि की नित्य सेवा-शुश्रूषा और उनकी आज्ञा का पालन करना पितृयज्ञ है।

(ङ) गीतोक्त यज्ञ – श्रीमद्-भगवद्-गीता में निम्नांकित प्रकार के यज्ञ निरूपित हैं –

(१) देवयज्ञ – पूर्ण समर्पण सहित श्रद्धा भाव से किया गया देव-पूजन। इन्द्रादि देवों के लिये अग्नि में द्रव्य-समर्पण।

(२) आत्मयज्ञ – जिसका साक्षात् करना है, उस उपाधि -रहित शुद्ध ब्रह्म-रूपी अग्नि में उपाधियुक्त आत्मा का हवन। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व-बोध में स्थित हुए वे ज्ञानी लोग ऐसा हवन करते हैं – **सोपाधिकस्य आत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्म-स्वरूपेण एव यद् दर्शनं स तस्मिन् होमः तं कुर्वन्ति ब्रह्मात्मैकत्व-दर्शन-निष्ठा संन्यासिनः इत्यर्थः।** (शांकर भाष्य)

(३) संयम-यज्ञ – संयमरूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन – इन्द्रिय-निग्रह रूपी दम की साधना। धारणा, ध्यान एवं समाधि की त्रिपुटी भी संयम कहलाती है। इन्द्रियाँ इसमें अपना स्वरूप खोकर इष्ट में लीन हो जाती हैं। उनकी विषयों को ओर भागने की स्वतंत्र-वृत्ति चली जाती है।

(४) इन्द्रिय-यज्ञ – इन्द्रियों-रूपी अग्नियों में शब्द आदि विषयों का हवन। राग-द्वेष-आदि से रहित होकर श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा शास्त्र-सम्मत विषयों का ग्रहण।

(५) आत्म-संयम-यज्ञ – ज्ञानदीप्त आत्मसंयम रूप अग्नि में सभी इन्द्रियों तथा प्राणों की क्रियाओं का अर्पण।

(६) द्रव्य-यज्ञ – आचार्य शंकर के अनुसार यज्ञ की भावना से तीर्थों में निर्माण कराना द्रव्ययज्ञ है। परोपकार की भावना से कुँआ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला तथा औषधालय आदि बनवाना एवं अन्नक्षेत्र चलाना द्रव्ययज्ञ है। देवताओं के लिए अग्नि में हविष्य का अर्पण भी द्रव्य-यज्ञ है।

(७) तपो-यज्ञ – अपने कर्तव्य के निर्वाह में आनेवाली कठिनाइयों तथा बाधाओं को सहन करना और कृच्छ, चान्द्रायण आदि कठोर व्रतों की पारणा करना तपोयज्ञ है।

(८) योग-यज्ञ – चित्त की वृत्तियों का निरोध, शम-दम आदि का पालन, यम-नियम आदि का अनुवर्तन और सुख-दुखात्मक स्थितियों में समता का भाव योगयज्ञ है।

(९) स्वाध्याय-यज्ञ – आत्म-विषयक चिन्तन और सद्ग्रन्थों का मननपूर्वक अध्ययन स्वाध्याय-यज्ञ है।

(१०) ज्ञानयज्ञ – आत्मा और परमात्मा विषयक खोज तथा सत्य-शोधन की वृत्ति ज्ञान है। शंकराचार्य ने शास्त्रार्थ-परिज्ञान – शास्त्रों के यथार्थ अर्थों का सम्यक् बोध को ज्ञान-यज्ञ कहा है – **ज्ञानं शास्त्रार्थ-परिज्ञानं यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाः।**

(११) प्राणायाम-यज्ञ – पूरक रेचक और कुम्भक की विधियों से प्राणायम करना। (१) अपान में प्राण का हवन करना (२) प्राण में अपान का हवन करना (३) प्राण और अपान की गतियों को रोकने का अभ्यास करना – ये तीन विधियाँ हैं, जिन्हें गीता ने पृथक्-पृथक् यज्ञ की संज्ञा दी है।

(१२) नियताहार-यज्ञ – नियमित आहार-विहार अथवा इन्द्रियों के विषयों का शास्त्र-सम्मत उपभोग करना नियताहार

है। नियताहार करनेवाले साधक ही प्राणों का प्राणों में हवन कर सकते हैं। अर्थात् प्राण का प्राण में और अपान का अपान में हवन करना। अन्त:स्थ वायु को बाहर निकालना 'प्राण' तथा बाहरी वायु को भीतर लाना 'अपान' है। दोनों को अपने-अपने स्थानों में रोक देना 'स्तम्भ-वृत्ति-प्राणायाम' है, जो कठिन है, पर इसे करने से अन्त:करण की निर्मलता तथा भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

(१३) जपयज्ञ – भगवान ने **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि** (१०/२५) – कहते हुए जप को भी एक यज्ञ निरूपित कर उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, क्योंकि मंत्रों से जितने भी यज्ञ किये जाते हैं, उनमें अनेक पदार्थों तथा विधियों की आवश्यकता होती हैं। सावधानी बरतने पर भी कुछ-न-कुछ त्रुटि हो ही जाती है। परन्तु भगवन्नाम-स्मरण-रूप जपयज्ञ में वस्तुओं तथा विधियों की आवश्यकता नहीं होती, अपितु जप से सर्वात्मना कल्याण ही होता है।

यज्ञों के भेद

गीता (१७/११-१३) यज्ञों के ये तीन भेद बताती है –

(१) सात्त्विक यज्ञ – शास्त्रोक्त विधान के अनुसार बिना किसी कामना के जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।

(२) राजस यज्ञ – जो यज्ञ फल की आकांक्षा और दम्भाचरण के लिए ही किया जाता है, वह राजस यज्ञ है।

(३) तामस यज्ञ – जो यज्ञ शास्त्रीय विधि से रहित, अन्नदान के बिना, मंत्रहीन, दक्षिणा तथा श्रद्धा के बिना किया जाता है, वह तामस है।

यज्ञ-माहात्म्य

वेद-स्मृति-पुराण आदि ग्रन्थों में यज्ञ का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। गीता में लिखा है कि यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणियों का जीवन-निर्वाह होता है (३/१४)। यही बात महाराज मनु ने इस प्रकार कही है –

अग्नौ प्रस्त-आहुतिः सम्यग्-आदित्यम्-उपतिष्ठते।
आदित्यात् जायते वृष्टिः वृष्टेः अन्नं ततः प्रजाः ।।

अर्थात् अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक पहुँचती है, सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न और अन्न से प्राणी। यज्ञ से देवता तृप्त होते हैं और वृष्टि के उत्सर्जन से प्राणी। और इस प्रकार जैसा कि विष्णु-पुराण (१/६/८) में लिखा है, यज्ञ सर्वथा कल्याण के हेतु हैं –

यज्ञैः आप्यायिता देवा वृष्टि-उत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते धर्मज्ञ यज्ञाः कल्याण-हेतवः ।।

विष्णु-धर्मोत्तर पुराण (अ./१६२) में बताया गया है – यज्ञ से देवता और पितर जीवित रहते है। सारे प्राणी देवों के अधीन हैं और देव यज्ञ के अधीन हैं। भगवान विष्णु यज्ञ-स्वरूप हैं। भगवान ने यज्ञ के लिए ही सम्पूर्ण स्थावर तथा जंगम जगत् की सृष्टि की है। यह सबके कल्याण के लिए है, इसलिए व्यक्ति को यज्ञवान् होना चाहिए –

यज्ञेन देवा जीवन्ति यज्ञेन पितरस्तथा।
देवाधीना प्रजा सर्वा यज्ञाधीनाश्च देवताः ।।
यज्ञो हि भगवान् विष्णुः यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः देवास्त्वौषधयः तथा ।।
यज्ञार्थं पुरुषाः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञपरो भवेत् ।।

वायुपुराण (६०/६) का कथन है कि यज्ञ के नष्ट होने पर देवनाश और तत्पश्चात् सर्वविनाश हो जाता है – **यज्ञे नष्टे देवनाशः ततः सर्वं प्रणश्यति**। महाभारत (आश्व. पर्व अध्याय ३) यज्ञ, दान और तप से दुष्कृतकारी मनुष्य भी पवित्र हो जाता है –

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिपः।
पूयन्ते नरशार्दूल नराः दुष्कृतकारिणः ।।

जिस घर में पंच-महायज्ञों का आयोजन होता है, उसके चूल्हा-चक्की, कूटने-पीसने, साफ-सफाई आदि से अनजाने में हो जानेवाले हिंसारूपी पाप नष्ट हो जाते हैं –

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पंचसूनाकृतं पापं पंच-यज्ञैः व्यपोहति ।।

यज्ञ से बचा हुआ अन्न खानेवाले लोग सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं (३/१३)। यज्ञ का अवशिष्ट अन्न अमृत रूप है। उसका उपभोग करनेवाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो यज्ञ नहीं करता, उसके लिये परलोक तो क्या, यह लोक भी सुखदायी नहीं होता (४/३१)। यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवगण जब मनुष्यों के लिए इष्टभोग प्रदान करते हैं, तब उनका यह कर्तव्य है कि वे उन भोग्य वस्तुओं को देवों के हेतु निवेदित करें। जो ऐसा न करके, देवों को बिना समर्पित किये उनका उपभोग करता है, वह चोर है और दण्ड का भागी है (३/१२)। जो भूतयज्ञ नहीं करता, केवल अपने लिये ही भोजन पकाता है, वह भोजन नहीं करता, अपितु पाप खाता है (३/१३)। जो यज्ञ नहीं करता, उसे विध्वस्त करता है, उसे तामिस्त्र, अन्ध-तामिस्त्र आदि नरकों में जाना पड़ता है (विष्णु-पुराण ३/१८/२)। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो यज्ञ तो करते हैं; परन्तु शास्त्रीय विधि का पालन नहीं करते, अपने आपको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं और धन, मान, मद से युक्त रहते हैं, उनका वह यज्ञ नाममात्र का होता है। वस्तुत: उनके द्वारा रचा गया वह पाखण्ड है (१६/१७)।

यज्ञकर्म और निष्काम कर्मयोग

यज्ञ प्रवृत्ति-लक्षण धर्म है, किन्तु यदि उससे निष्काम भाव से किया जाय, तो वह निवृत्ति-लक्षण धर्म बन जाता है, इस सम्बन्ध में कुछ विचार-बिन्दु मननीय हैं –

(१) यज्ञ-कर्म यज्ञार्थ कर्म है। पूर्ण समर्पण और निष्काम

भाव से किया गया कर्म यज्ञार्थ कर्म है। लोक-संग्रह की दृष्टि से किया गया यज्ञार्थ कर्म बन्धन-कारक नहीं होता – **यज्ञाय आचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते** (४/२३)।

(२) **यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य** – अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान सबके – जड़-चेतनात्मक पूर्ण जगत् के कल्याण हेतु होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के मत से – वह परोपकार और जनता के हित के लिए होता है – **यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते।**

(३) **यष्टव्यं श्रद्धया नरैः** – यज्ञकर्म में यज्ञकर्ता की श्रद्धा आवश्यक है। यदि वह अश्रद्धा तथा अनुत्साह से हवन करता है, तो वह असत् है। इससे उसे इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक नि:श्रेयस् नहीं मिलता।

(४) **यज्ञो हि साधनं मात्रम्** – यज्ञ साधन मात्र है और साध्य तो यज्ञेश्वर कृष्ण हैं। लोग इन्हें सत्त्वशुद्धि तथा मोक्ष की इच्छा से करते हैं (१७/२५)। यह सोपान है।

(५) यज्ञ, तप तथा दान सत्कर्म है (१७/२७), अत: ये कदापि त्याज्य नहीं हैं। इन्हें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ये मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले हैं (१८/५)।

(६) भगवान ने यज्ञकर्ताओं के लिये – 'योगिन:, यतय:, असंशितव्रता:, यज्ञविद:, यज्ञक्षपितकल्मषा:, यज्ञशिष्टामृतभुज:' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में यज्ञकर्म के प्रति महती निष्ठा है।

यज्ञकर्म और भक्तियोग

यों तो नवधा भक्ति में यज्ञ-कर्म का कोई स्थान नहीं है। दास्यभाव, सखाभाव तथा गोपीभाव की भक्ति यदि यज्ञानुष्ठान का विधान नहीं करती, तो उसका निषेध भी उसे इष्ट नहीं है। गीता तथा वैष्णव पुराणों में यज्ञ की महिमा-वर्णन द्वारा बल्कि उसका अनुमोदन ही हुआ है। यह बात और है कि याज्ञिकों की स्थूल दृष्टि में सूक्ष्म चिन्तन के परिवर्तन के विचार-बिन्दु प्रक्षेपित (Projected) अवश्य हैं। इस सूक्ष्म-चिन्तन का विकास औपनिषदिक चिन्तन के साथ प्रारम्भ हो गया था और भक्ति ने उसी को संस्कारित कर रसमयता प्रदान की है। यज्ञवादी मीमांसकों को आत्मालोचन के लिए गीता के कुछ सूत्र इस प्रकार हैं –

(अ) **त्रैगुण्य-विषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन** (२.४५) – कर्म तथा उसके फल का प्रतिपादन करनेवाले वेद त्रिगुणात्मक है। अत: हे अर्जुन, तू स-कामता त्याग दे।

(ब) परमात्मा को वेद, यज्ञ, ज्ञान, अध्ययन, दान, क्रियाओं तथा तप के द्वारा नहीं देखा जा सकता। वे तो केवल अनन्य भक्ति (प्रेम) से ही जानने, देखने और तदाकारिता स्थापित करने के योग्य हैं (११/४८-५४)।

(स) देवों का भजन करनेवाले देवों को और मेरा भजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं (७/२३)।

प्रेमस्वरूपा भक्ति की चरम परिणति हुई सखी-भाव की भक्ति में। जहाँ वेद और लोक मर्यादाओं के साथ ज्ञान की सीमा भी पहचानी गई तथा इनकी अनुपादेयता का स्पष्टीकरण किया गया। सम्प्रदाय का अभिमत है – "वेद विश्व-बैंक का कानून है। सृष्टि के क्रम को उचित रीति से चलाते रहने के लिए वेद की संहिताएँ उपादेय हैं। मगर प्रेम के राज्य में वेद का कानून घुस आयेगा, तो रस-धारा सूखने लगेगी। प्रेम के क्षेत्र में प्रेम का कानून चलता है, जिसका आधार होता है एक-दूसरे के दर्द की प्रत्यक्ष अनुभूति। गुरुदेव ने कहा है –

काहे को पढ़िये वेद-पुराना।
कागद के आंकन उनमाना।। ...
भेदत नहीं ज्ञान गीता को, सुनी कथा भरिपूरि।
(रसनिकुंज मासिकी, वृन्दावन, पृ. ५, ३१)

इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति-सम्प्रदायों में यज्ञकर्म के प्रति उदासीन भाव है।

यज्ञकर्म और ज्ञानयोग

द्रव्यमय यज्ञ अर्थात् देवों के लिये होनेवाले यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। सारे कर्मों का समाहार ज्ञान में ही होता है –

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (४/३३)

जो भी हो, यज्ञ की महत्ता सर्वोपरि है। यह हमारी राष्ट्रीय प्राणवत्ता का प्रमाण है। यही कारण है कि आज भी मांगलिक कार्यों और जन्म से मरण तक के समस्त संस्कारों में यज्ञ की आयोजना अपेक्षित है। प्राणों के महाप्रयाण के समय सोमरूप शरीर का अग्नि में समर्पण भी यज्ञ है। वैदिक कर्म है। एक समय था जब गाँव-गाँव में देवों का निवास था। स्थान-स्थान पर यज्ञों की धूम थी। प्रत्येक घर धन-धान्य से पूर्ण था और जन-जन में धर्म के प्रति आस्था थी –

ग्रामे-ग्रामे स्थितो देवः देशे-देशे स्थितो मखः।
गेहे-गेहे स्थितं द्रव्यं, धर्मश्चैव जने-जने।।
(भविष्य-पुराण)

विष्णु-पुराण (१/१३/१९) का कथन है – जिस राष्ट्र में यज्ञों के द्वारा यज्ञेश्वर हरि का भजन होता है, वहाँ सभी की मनोकामनाओं की पूर्ति होती है –

यज्ञैः यज्ञेश्वरो येषां राष्ट्रे सम्पूज्यते हरिः।
तेषां सर्वेप्सितावाप्तिं ददाति नृप भूभृताम्।।

❑❑❑

अमेरिका जाने का संकल्प

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

त्रिवेन्द्रम् से मद्रास की ओर

उन्हीं दिनों अमेरिका के शिकागो नगर में सुप्रसिद्ध विश्वमेला चल रहा था और उसी के एक अंग के रूप में एक सर्वधर्म-महासभा भी होनेवाली थी। भारत में अनेक स्थानों पर इसके लिये आमंत्रण-पत्र भेजे गये थे, परन्तु तत्कालीन हिन्दू समाज में समुद्र पार जाना अक्षम्य अपराध माना जाता था, अत: कोई भी प्रभावशाली हिन्दू धर्माचार्य सुदीर्घ समुद्र-यात्रा करके उस महासभा में भाग लेने जाने को तैयार न था। मद्रास के कुछ युवक इस विषय में बड़ी गम्भीरता से सोच रहे थे और किसी योग्य विद्वान् की खोज में थे। मद्रास के प्रो. रंगाचार्य भी उन्हीं युवकों में एक थे और उन दिनों त्रिवेन्द्रम् के महाराजा कॉलेज में रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे थे। दिसम्बर १८९२ के उत्तरार्ध में जब स्वामीजी त्रिवेन्द्रम् पहुँचे, तो उन्हें देखते ही प्रो. रंगाचार्य समझ गये कि शिकागो भेजने के लिये इनसे अधिक योग्य अन्य कोई पात्र नहीं मिलेगा। और वहीं पर मद्रास के डिप्टी एकाउंटेंट जनरल मन्मथनाथ भट्टाचार्य भी आ पहुँचे। सम्भवत: दोनों के ही अनुरोध पर स्वामीजी मद्रास जाने को राजी हुए। परन्तु इसके पूर्व वे कन्याकुमारी में माता भगवती का और रामेश्वरम् में भगवान आशुतोष शिव का दर्शन कर लेना चाहते थे।

कन्याकुमारी में ध्यान

त्रिवेन्द्रम् से चलकर स्वामीजी कन्याकुमारी पहुँचे। तट पर स्थित मन्दिर में देवी की पूजा करने के बाद वे समुद्र में तैरकर एक शिला पर जा पहुँचे। उस पर बैठकर वे ध्यान में डूब गये, परन्तु उनके ध्यान का विषय कोई देवी-देवता नहीं, अपितु थीं उनकी प्राणों से भी प्रिय भारतमाता। इस ध्यान के दौरान इस देश का पूरा चित्र – इसका अतीत, वर्तमान और भविष्य उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष चलचित्र की भाँति गुजर गया। एक ऋषि की अन्तर्दृष्टि से वे समझ गये कि कभी गौरव के शिखर पर आसीन यह देश क्यों और कैसे आज पतन के गह्वर में जा पड़ा है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों तथा इसकी सम्भावनाओं पर विचार किया। वे समझ गये कि विगत हजारों वर्षों से धर्म ही करोड़ों भारतवासियों का प्राण रहा है और भविष्य में भी रहेगा। इसी क्षेत्र में भारत चिरकाल से पूरे विश्व का शिक्षा-केन्द्र रहा है और 'धर्म' के उद्धार से ही भारत का भी पुनरुद्धार होगा। उन्होंने पाया कि एक राष्ट्र के रूप में हम अपना व्यक्तित्व खो चुके हैं, उसे वापस लौटाना होगा, ऋषियों की संस्कृति और परम्परा को पुन: स्थापित करना होगा। भारत के पतन का कारण 'धर्म' नहीं, अपितु उसका समुचित रूप से पालन न करना था।

भारत की निर्धनता का विचार आते ही उनका कोमल हृदय क्रन्दन कर उठा। उन्होंने सोचा कि ऐसे धर्म की क्या आवश्यकता, जिसमें आम जनता के लिये कोई स्थान ही न हो? उन्होंने विचार करके देखा कि शासक चाहे जो भी रहा हो, सर्वत्र और सर्वदा निर्धनों को ही सताया गया है। पुरोहिती प्रथा के प्राबल्य, जातिवाद के अत्याचार तथा समाज के निष्ठुर श्रेणी-विभाजन ने अधिकांश लोगों को धर्म से वंचित कर दिया था। और भारतीय राष्ट्र के विकास में उन्हें ये सब अलंघ्य बाधाएँ प्रतीत हुईं।

उनका हृदय करोड़ों दीन-दुखियों के लिये स्पन्दित हो रहा था। मानो वे सहानुभूति के किसी उच्च स्तर में उन्नीत हो गये थे, जहाँ उनकी पीड़ा में वे भी भागीदार थे और उनके अध:पतन में स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे थे। वे स्वयं को उन्हीं के साथ संयुक्त कर लेना चाहते थे। यह सोचते हुए उनके हृदय में टीस उठ रही थी कि धर्म के रक्षक के रूप में गर्व करनेवाले लोग किस प्रकार युगों से जन-साधारण को उससे वंचित किये रहे।

बाद में १९ मार्च १८९४ ई. को शिकागो से अपने एक गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द के नाम लिखित स्वामीजी के एक पत्र से उनके शिला पर हुए बोध की किंचित् झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा था – "भाई, जो धर्म गरीबों का दु:ख नहीं मिटाता, मनुष्य को देवता नहीं बनाता, क्या वह भी धर्म है? क्या हमारा धर्म, धर्म कहलाने योग्य है?

हमारा तो छूतमार्ग है – सिर्फ 'मुझे मत छुओ', 'मुझे मत छुओ।' ... जिस देश में करोड़ों लोग महुए के फूल खाकर दिन गुजारते हैं, और दस-बीस लाख साधु तथा दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, वह देश है या नरक? वह धर्म है या पिशाच का नृत्य? भाई, इस बात को गौर से समझो – मैं भारतवर्ष को घूम-घामकर देख चुका और इस देश को भी देखा – क्या बिना कारण के कहीं कार्य होता है? क्या बिना पाप के सजा मिल सकती है?

सर्वशास्त्रपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।।

– "सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो वचन हैं – परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।" ...

"यह सब देखकर – खासकर देश का दारिद्र्य और अज्ञता देखकर – मुझे नींद नहीं आती। मैंने एक योजना सोची तथा उसे कार्यान्वित करने का मैंने दृढ़ संकल्प किया। कन्याकुमारी में माता कुमारी के मन्दिर में बैठकर, भारतवर्ष की अन्तिम चट्टान पर बैठकर, मैंने सोचा कि हम जो इतने संन्यासी घूमते-फिरते हैं और लोगों को दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं, यह सब निरा पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव नहीं कहा करते थे कि खाली पेट से धर्म नहीं होता? वे जो गरीब जानवरों का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसका कारण अज्ञान है। हम युग-युग से उनका खून चूसकर पीते आये हैं और उनको पैरों से कुचला है। ...

"मान लो, यदि कुछ निःस्वार्थ परोपकारी संन्यासी गाँव-गाँव में विद्यादान करते फिरें और भाँति-भाँति के उपाय से मानचित्र, कैमरा, ग्लोब आदि के सहारे चण्डाल तक सब की उन्नति के लिए घूमें, तो क्या इससे समय पर मंगल होगा या नहीं? बात यह है कि 'यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आये तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास जायेगा।' (अर्थात् यदि गरीबों के लड़के विद्यालयों में न आ सकें, तो उनके घर पर जाकर उन्हें सिखाना होगा।) ... और कविता आदि पढ़कर उन्हें कोई लाभ नहीं। हमारा राष्ट्र अपना व्यक्तित्व खो बैठा है और यही भारत की सारी खराबी का कारण है। हमें राष्ट्र को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व लौटाना होगा और जन-साधारण को उठाना होगा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी ने उनको पैरों तले रौंदा है। उनको उठानेवाली शक्ति भी अन्दर से अर्थात् कट्टर हिन्दुओं से ही आयेगी। हर देश में बुराइयाँ धर्म के कारण नहीं, बल्कि धर्म को न मानने के कारण ही विद्यमान रहती हैं। अतः धर्म का नहीं, दोष मनुष्यों का है। इसके लिए पहले तो लोग चाहिए, फिर धन। गुरुकृपा से मुझे हर शहर में १०-१५ लोग मिलेंगे। धन की चिन्ता में मैं घूमा, पर भारत के लोग भला सहायता करेंगे !!"

भारी हृदय के साथ उन्होंने समुद्र की ओर देखा और उनके नेत्रों में आलोक की एक किरण चमक उठी। उन्होंने सोचा कि भारत के करोड़ों लोगों के नाम पर वे अमेरिका जायेंगे और वहाँ अपने परिश्रम से धन कमायेंगे। उसके बाद वे देश लौटकर अपना जीवन भारत के उद्धार में लगा देंगे, और नहीं तो इसी प्रयास में प्राण दे देंगे। वस्तुतः कन्याकुमारी में स्वामीजी एक साथ ही देशभक्त और ऋषि हो गये थे। बाद में उन्होंने अपने एक पाश्चात्य शिष्य को बताया था कि वहाँ पर वे घनीभूत भारत (Condensed India) हो गये थे। इसी शिला पर ध्यान करते समय उन्हें भारत के उद्धार का पथ मिला और इसी शिला पर एक संन्यासी का एक राष्ट्र-निर्माता और विश्व-निर्माता में रूपान्तरण हुआ।

अनुमानतः २४ से २६ दिसम्बर १८९२ – तीन दिन उस शिला पर बिताने के बाद स्वामीजी तैरकर मुख्य भूमि पर वापस लौट आये। उसके बाद वे अपने मूल गन्तव्य रामेश्वरम् की ओर अग्रसर हुए।

रामनाद में राजा सेतुपति से भेंट

कन्याकुमारी में ध्यान से उठने के बाद स्वामीजी हाथ में दण्ड-कमण्डलु लिये पैदल ही रामनाद की ओर चल पड़े। वहाँ उनकी रामनाद (रामनाथपुरम्) के राजा भास्कर सेतुपति से भेंट हुई।[१] स्वामीजी उनके नाम एक परिचय-पत्र भी लाए थे। भारतीय राजाओं में वे अत्यन्त विद्वान, बुद्धिमान एवं धार्मिक थे। स्वामीजी के गुणों से मुग्ध होकर उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वामीजी अब तक अनेक राजा-महाराजाओं से जनसाधारण की शिक्षा, कृषि की उन्नति, भारतीय जीवन की तत्कालीन समस्याओं व उनके समाधान आदि विषयों की चर्चा करते आए थे। राजा सेतुपति के समक्ष भी उन सब प्रसंगों की चर्चा की। इसके अतिरिक्त भारतीय धर्मजीवन, भारतीय धर्म की महिमा तथा पाश्चात्य देशों में उसके प्रचार की सम्भावना आदि की बातें भी कहीं।

"सब कुछ सुनकर सेतुपति ने उनसे शिकागो धर्मसभा में सम्मिलित होने के लिए बार-बार अनुरोध किया एवं यह भी बताया कि वे यथासाध्य आर्थिक सहायता करने को भी तैयार हैं। उन्होंने स्वामीजी को यह भी समझाना चाहा कि शिकागो धर्मसभा में उनकी उपस्थिति के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि भारतीय आध्यात्मिकता की ओर कमोवेश आकृष्ट होगी और उसके परिणामस्वरूप उनके भारतीय कार्य का मार्ग भी सुगम होगा; ऐसा सुयोग सहज ही नहीं आता तथा इसे ग्रहण करना सर्वतोभावेन अत्यावश्यक है। किन्तु स्वामीजी उस समय रामेश्वर दर्शन के लिए व्यग्र थे; अतएव राजा से विदा लेकर रामेश्वरम् के लिए चल पड़े।"[२]

१. एक अन्य मत है कि राजा से उनकी भेंट मदुरा में हुई थी।

२. 'युगनायक विवेकानन्द', सं. खण्ड १, पृ. ३३४

स्वामी शिवानन्द जी के एक वार्तालाप में भी यह प्रसंग मिलता है। उन्होंने बताया था – "गोवा आदि भ्रमण करते हुए स्वामीजी रामनाद पहुँचे। रामनाद के राजा अच्छे विद्वान् और मद्रास विश्वविद्यालय के ग्रैजुएट थे। वे बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करते थे। उन्होंने ही समाचार-पत्र में देखकर कहा, 'स्वामीजी, अमेरिका में एक बहुत बड़ा काम चल रहा है। विभिन्न देशों के विद्वान् और धर्माचार्य विभिन्न सम्प्रदायों की ओर से धर्मसभा में भाग लेने शिकागो जा रहे हैं। यदि हिन्दू धर्म की ओर से आपके समान विद्वान् व्यक्ति वहाँ जायें, तो बड़ा अच्छा होगा।' स्वामीजी ने कहा, 'बात तो ठीक है। मैं ठहरा संन्यासी – मेरे लिये यह देश क्या और वह देश क्या! पैसा मिले तो चला जाऊँगा।' इस पर राजा उन्हें दस हजार रुपये देने को राजी हुए।"[३]

रामेश्वरम् में शिव का दर्शन

स्वामीजी दिल्ली से एकाकी जिस यात्रा पर निकले थे, उसका प्रथम लक्ष्य था – रामेश्वरम्। १८९२ ई. के जून तथा अगस्त में पूना तथा मुम्बई से लिखित जूनागढ़ के दीवान के नाम अपने पत्रों में वे रामेश्वरम् जाने का ही संकल्प व्यक्त करते हैं और खण्डवा के हरिदास चटर्जी, मुम्बई के बैरिस्टर रामदास छबीलदास, बेलगाम के हरिपद मित्र, मैसूर में वहाँ के महाराजा आदि अनेक लोगों से वे यही कहकर विदा लेते हैं कि उन्हें यथाशीघ्र रामेश्वरम् पहुँचना है। जैसे भगवान राम ने समुद्र-पार जाने के पूर्व वहाँ महादेव शिव की पूजा की थी, वैसे ही विश्वविजय के लिये निकलने के पूर्व स्वामीजी भी सर्वप्रथम रामेश्वर शिव का दर्शन करना चाहते थे।

रामेश्वर भारत का एक प्रमुख तीर्थक्षेत्र है। यह बारह ज्योतिर्लिंगों में एक और चार धामों में एक माना जाता है। इसका माहात्म्य काशी के समान ही है। यह तमिलनाडु के रामनाद या रामनाथपुरम् जिले के अन्तर्गत आनेवाले पाम्बन नामक एक द्वीप पर स्थित है। यह द्वीप १६ मील लम्बा और १ से ९ मील चौड़ा है। एक सँकरे पुल के द्वारा यह मुख्य भूमि से जुड़ा है। इसके एक सिरे पर पाम्बन और दूसरे सिरे पर धनुष्कोटि है। रामेश्वरम् का यह मन्दिर कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ लिये हुए है। यह १००० फीट लम्बा और ६५० फीट चौड़ा है। इसका मुख्य द्वार १०० फीट ऊँचा है। मन्दिर का गलियारा अत्यन्त भव्य है, इतना विशाल है कि इसमें हाथी तक प्रवेश कर सकते हैं।

प्रचलित धारणा के अनुसार भगवान श्रीराम ने लंका पर आक्रमण हेतु समुद्र पर सेतु बनाने के पूर्व यहाँ भगवान शिव के प्रतीक की स्थापना करके उनकी पूजा-अर्चना की थी।

३. स्वामी शिवानन्द से वार्तालाप, विवेक-ज्योति, जनवरी १९९४, पृ. ११५-१७ (बँगला उद्बोधन वर्ष ३६ वाँ, पौष अंक)

एक दूसरा मत भी प्रचलित है कि भगवान ने लंका से लौटने के बाद इस देवस्थान की स्थापना की थी। इससे सम्बन्धित कथा इस प्रकार है –

प्राचीन काल में यह क्षेत्र गन्धमादन कहलाता था। श्रीराम ने लंका पर चढ़ाई करके रावण का वध किया और उसके बाद कुछ काल विश्राम करने की इच्छा से वे गन्धमादन पर्वत पर आये। वहाँ अगस्त्य आदि ऋषियों ने उनका सहर्ष स्वागत किया। उन लोगों को भगवान के मुख पर खिन्नता के चिह्न दीख पड़े। इसका कारण पूछने पर श्रीराम ने बताया कि लंका पर विजय तो मिल गयी, परन्तु रावण एक ब्राह्मण था और उसे मारने से उन्हें लग रहा था कि मुझसे ब्रह्महत्या का महापाप हुआ है। यही उनके खेद का कारण था। इस पाप के प्रतिकार हेतु ऋषि अगस्त्य ने उन्हें सागर-तट पर शिवलिंग स्थापित करने की सलाह दी। उन्होंने इसके लिये मुहुर्त भी निकाल दिया। दिव्य लिंग लाने के लिये श्रीराम ने हनुमानजी को कैलाश पर्वत भेजा। वे कैलाश पहुँच तो गये, परन्तु उन्हें शिवजी का दर्शन नहीं मिला। वे इसके लिये तपस्या करने लगे। आखिरकार महादेव प्रकट हुए और उन्हें दिव्य लिंग प्रदान किया। परन्तु तब मुहुर्त निकलता जा रहा था, अत: सीताजी ने बालुका से एक शिवलिंग बना दिया। ऋषि के निर्देशानुसार श्रीराम ने उसी की स्थापना कर दी। इसी लिंग को रामेश्वर या रामनाथ कहते हैं। हनुमानजी जब कैलाश से लौटे, तो यह देखकर उन्हें बड़ा दुख हुआ कि शिवजी की स्थापना हो चुकी है। श्रीराम ने उन्हें सांत्वना देते हुए पास में ही वह दिव्य लिंग भी स्थापित कर देने को कहा। उनके द्वारा स्थापित इस लिंग का दर्शन किये बिना यात्रियों को रामेश्वर-दर्शन का फल नहीं मिलता।

धनुष्कोटि से सम्बन्धित कथा भी बड़ी रोचक है। रावण-वध के बाद भगवान ने विभीषण को लंका की गद्दी पर बैठा दिया। विभीषण बोले – आपने समुद्र पर जो सेतु बना दिया है, उससे लंका की सुरक्षा को खतरा है। इससे भारत के राजा यहाँ बारम्बार आक्रमण करते रहेंगे। भगवान ने अपनी धनुष की कोटि (कोने) से सेतु का एक किनारा तोड़कर समुद्र में डुबा दिया, इसलिये इसे धनुष्कोटि कहते हैं।[४]

स्वामीजी रामेश्वर-दर्शन की आकांक्षा से सुदीर्घ यात्रा कर रहे थे, अत: जैसा कि स्वाभाविक है महादेव के इस विशाल मन्दिर में दर्शन करके स्वामीजी भावविभोर हो उठे। वहाँ देवदर्शन और पूजा-ध्यान आदि करने के बाद उन्होंने पाण्डीचेरी के मार्ग से मद्रास की ओर प्रस्थान किया।

मद्रास में सुदीर्घ प्रवास

सम्भवत: १८९३ ई. की १ जनवरी या उसके दो-एक

४. कल्याण, तीर्थांक, पृ. ३७४-३८०

दिन आगे या पीछे स्वामीजी मद्रास पहुँचे थे और उनके आने की सूचना पाकर नवयुवकों की एक टोली पहले से ही उनका स्वागत करने को तैयार थी। सम्भवत: त्रिवेन्द्रम में ही प्रो. रंगाचार्य ने अमेरिका में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भेजने के लिये स्वामीजी को चिह्नित कर लिया था। वहाँ से मद्रास की ओर आते समय मार्ग में रामनाद या रामेश्वरम् के राजा भास्कर सेतुपति ने अपने खर्च पर उन्हें अमेरिका भेजने का प्रस्ताव रखा और स्वामीजी ने उसे स्वीकार भी कर लिया था। स्वामीजी पाण्डीचेरी से मन्मथनाथ भट्टाचार्य के अतिथि के रूप में उन्हीं के साथ मद्रास पहुँचे और उन्हीं के बँगले पर उन्होंने डेरा डाला। शीघ्र ही उनकी ख्याति वहाँ के बुद्धिजीवियों में फैल गयी और प्रतिदिन संध्या के समय नगर के कोने-कोने से बहुत-से लोग उनसे मिलने तथा चर्चा करने आने लगे। उनकी शक्ति, उनकी पवित्रता और उनका तेज क्रमश: अधिकाधिक अभिव्यक्त होने लगे। उनके व्यक्तित्व तथा मेधा से लोग मंत्रमुग्ध हो जाते। उन दिनों स्वामीजी ने मद्रास के नवयुवकों में जो प्रभाव विस्तार किया था, उसका स्मरण करते हुए श्री के. व्यासराव ने लिखा है – ''ये संन्यासी कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे, मुण्डित मस्तक थे, अति सुन्दर रूपवाले थे, उनका पहरावा त्याग का चिह्न गेरुआ वस्त्र था, वे अँग्रेजी और संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह बोल सकते थे, उनमें हाजिर-जवाबी की असाधारण क्षमता थी; जब वे खुले कण्ठ से गाते तो लगता कि मानो वे विश्वात्मा के साथ सुर मिला रहे हैं; और साथ ही वे एक विश्व-भ्रमणकारी पर्यटक थे। उनका शरीर स्वस्थ तथा सुगठित था; वे सजीव व्यंग्य-विनोद से परिपूर्ण थे; और चमत्कार की खोज में रहनेवाली संस्थाओं के प्रति अतीव तुच्छता का भाव रखते थे; वे अच्छे भोजन के प्रेमी थे; हुक्के तथा तम्बाकू का रसास्वादन करते थे, पर इसके बावजूद इतनी कुशलता तथा सरलता के साथ त्याग-वैराग्य की बातें कहते कि कोई भी प्रशंसा तथा श्रद्धावनत हुए बिना रह नहीं पाता। ऐसे अद्भुत व्यक्ति को देखकर बी. ए. और एम. ए. पास लोग भी किंकर्तव्यविमूढ़ रह जाते। वहाँ उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो आत्मा के क्षेत्र में किसी से भी लोहा लेने में समर्थ है। और गम्भीर चर्चा के बाद जब हल्के-फुल्के क्षण आते, तब वे लोग देखते कि वे हास-परिहास में डूब सकते थे, बिना कोई समझौता किये भर्त्सना कर सकते थे और अपनी उक्तियों से परिवेश को सजीव कर सकते थे।

''परन्तु इन सबके अतिरिक्त उनके अकृत्रिम देशभक्ति के भाव ने उन्हें सबका प्रिय बना दिया था। जिन युवक ने सारे सांसारिक सम्बन्धों को त्यागकर स्वयं को बन्धनों से मुक्त कर लिया था, उनके प्रेम का केवल एक ही पात्र था – उनका देश और उन्हें एक ही बात का दुख था – उसका पतन। इन बातों पर चर्चा करते हुए वे तन्मय हो जाते और श्रोतागण मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहते। ऐसे थे वे व्यक्ति, जिन्होंने हुगली से ताम्रपर्णी नदी तक की यात्रा की थी और जो हमारे नवयुवकों की दुर्बलता पर अजस्र खेद तथा तिरस्कारों की वर्षा करते रहते, जिनके शब्द विद्युत् की भाँति चमकते और इस्पात की भाँति काट डालते, जो सबको प्रभावित करते, कुछ में अपने उत्साह का संचार करते, और कुछ गिने-चुने लोगों में अपने अटल विश्वास की चिनगारी जगा देते।''

पाश्चात्य देशों में जाने की तैयारी

श्रीरामकृष्ण ने अपने देहत्याग के कुछ पूर्व एक कागज पर लिखा – ''नरेन शिक्षा देगा, जब वह देश और विदेश में आवाज देगा।'' इस पर नरेन्द्र ने कहा था, ''यह सब मुझसे न होगा।'' श्रीरामकृष्ण बोले – ''तेरे हाड़ करेंगे।'' इसके बाद अपने भारत-भ्रमण के दौरान गाजीपुर, पोरबन्दर, खण्डवा, बेलगाँव, मैसूर आदि अनेक स्थानों में स्वामीजी से पाश्चात्य देशों में जाने और वहाँ भारतीय धर्म-संस्कृति की गौरव-ध्वजा फहराने का अनुरोध किया जाता रहा। कई लोगों ने तो इसके लिये धन संग्रह करने या स्वयं उपलब्ध कराने का प्रस्ताव भी रखा, पर स्वामीजी बारम्बार सर्वप्रथम रामेश्वरम् जाने के अपने संकल्प की बात दुहराते रहे और कहते – उसके बाद यदि ईश्वर की इच्छा प्रतीत हुई तो इस विषय में अन्तिम निर्णय लेंगे और यूरोप-अमेरिका जायेंगे।

पर अब रामनाद के राजा भास्कर सेतुपति के प्रस्ताव पर हामी भरते हुए स्वामीजी पाश्चात्य देशों को जाने का निर्णय ले चुके थे। महासभा होने में अभी देर थी, अत: स्वामीजी ने सोचा कि पहले इंग्लैंड जाकर कार्य शुरू करेंगे और उसके बाद वहीं से अमेरिका की यात्रा करेंगे।[५] उनके अनुरागी तथा भक्तगण जी-जान से यात्रा की तैयारी में जुट गये। उन लोगों ने सोचा कि इंग्लैंड तथा अमेरिका स्वामीजी के लिये अनजान देश है, अत: वहाँ उनके लिये कुछ परिचय-पत्र होने चाहिये। उनमें से कई लोग विश्वव्यापी संगठन थियॉसाफिकल सोसायटी से भी जुड़े थे। उन लोगों ने सोचा कि वहाँ से भी कुछ पत्र ले लिये जायँ। स्वामीजी अपने अनुरागियों के साथ अड्यार में स्थित उनके मुख्यालय गये, पर संस्था के अध्यक्ष कर्नल अल्काट उस समय कहीं दौरे पर गये हुए थे।

जनवरी के मध्य में 'त्रिप्लीकेन लिटरेरी सोसायटी' ने एक सभा का आयोजन किया, जिसमें स्वामीजी ने वैदिक धर्म तथा हिन्दू समाज के विषय में एक सुन्दर व्याख्यान दिया, जो वहाँ के एक समाचार-पत्र में प्रकाशित भी हुआ था।

❖ (क्रमशः) ❖

५. आगे उद्धृत होनेवाले मद्रास से लिखे स्वामीजी के १५ फरवरी के पत्र में उनके इंग्लैंड जाने की बात का उल्लेख है।
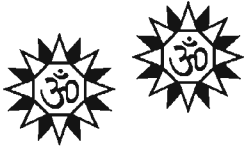
वाराणसी में स्वामी विवेकानन्द (३)
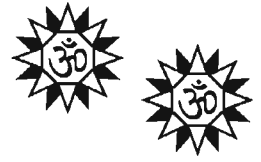
स्वामी सदाशिवानन्द

(स्वामीजी १९०२ ई. में जब अन्तिम बार वाराणसी आये, उस समय हरिनाथ ओदेदार ने साथ रहकर उनकी सेवा की थी। हरिनाथ बाद में संन्यास लेकर स्वामी सदाशिवानन्द हुए। १९२२-२३ ई. में स्वामीजी के छोटे भाई श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने उनसे सुनकर इन स्मृतियों को लिपिबद्ध कर लिया था और बाद में 'काशीधामे स्वामी विवेकानन्द' नामक बँगला पुस्तक के रूप में और अंग्रेजी की 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुई, उन्हीं का हिन्दी अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

स्वामीजी के इस बार वाराणसी आने के तीन वर्ष पहले से ही हम लोगों ने चारुबाबू तथा अन्य लोगों की सहायता से एक समिति आरम्भ कर रखा था। हम लोगों का उद्देश्य था – श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के साहित्य का अध्ययन तथा उस पर चर्चा करना और कर्मयोग पर विशेष बल देते हुए कर्म करना। हममें से कुछ युवक एकत्र होकर निर्धनों तथा पीड़ितों की सेवा करते और साथ ही ध्यान, उपासना तथा उत्कृष्ट आदर्शों के आधार पर अपना जीवन गढ़ने का प्रयास करते। धीरे-धीरे वाराणसी के अनेक गणमान्य लोगों ने हमारा साथ दिया और हमारे कार्य का विस्तार हुआ। हम इसे – 'Poor Men's Relief Association' (निर्धन-राहत-समिति) कहा करते।

दो वर्षों तक हम लोग इसी प्रकार संघर्ष करते रहे। उसके बाद तीसरे साल स्वामीजी के व्यावहारिक वेदान्त ने हमें इसे पुनर्गठित तथा नये नामकरण के लिये प्रेरित किया और यह 'दरिद्र-नारायण सेवा-समिति' हो गया था। एक वर्ष तक इस प्रकार सेवा-कार्य चलाने के बाद स्वामीजी वाराणसी आये और हम लोगों को अपने विनम्र शिष्यों के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने चारुबाबू में अपनी शक्ति का संचार किया और विशेषकर इसी तरह के सेवा-कार्यों में अपनी ऊर्जा लगाने का निर्देश दिया। स्वामीजी हम लोगों से कहते – "निर्धन जनता के एक पैसे को भी अपने शरीर का रक्त समझना। तुम लोग राहत समितियों के द्वारा उन्हें भला क्या राहत दोगे? मिथ्या रंगों के साथ मत चलो। अपनी संस्था को 'Sri Ramakrishna Home of Service' (श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम) का नाम दो और इसे पूरी तौर से मिशन के संचालन में दे दो। हमने ऐसा ही किया और इस प्रकार सेवाश्रम की स्थापना हुई।

वयोवृद्ध हिन्दुओं में एक प्रथा है कि वे वाराणसी में जाकर क्षेत्र-संन्यास ले लेते हैं और मृत्यु-पर्यन्त नगर को नहीं छोड़ते। बंगाल के एक छोटे जमींदार पण्डित शिवानन्द एक ऐसा ही व्रत लेकर वहाँ निवास कर रहे थे। उन्हें संस्कृत दर्शन-शास्त्र का विशेष ज्ञान था और उच्च आध्यात्मिक उपलब्धि भी हुई थी। उनका हृदय विशाल तथा दृष्टिकोण उदार था। वे अपने वाराणसी आगमन के आरम्भ से ही हम लोगों से परिचित थे और हमारे सेवाश्रम की शुरुआत से ही वे एक समर्थक बन गये।

वे स्वामीजी के उपदेशों के समर्थन में बहुधा शास्त्रों से उद्धरण दिया करते और कहते – "मैंने पवित्र नगर वाराणसी से बाहर न जाने का व्रत लिया हुआ है और स्वामीजी कलकत्ते में रहते हैं। क्या वे एक बार भी यहाँ नहीं आयेंगे?"

स्वामीजी १९०२ ई. के प्रारम्भ में वहाँ आये और पण्डितजी उनसे मिलने गये। पहली भेंट ने ही उन्हें आनन्द तथा प्रसन्नता से परिपूर्ण कर दिया और स्वामीजी उनके घनिष्ठ मित्र बन गये। बहुधा उनकी बातचीत का विषय होता – श्रीरामकृष्ण और उनका अद्भुत आध्यात्मिक जीवन। अपने गुरुदेव के आध्यात्मिक भावों पर बोलते हुए स्वामीजी के अनजाने ही वे भाव उनमें प्रकट हो उठते।

पण्डितजी कभी-कभी शास्त्रों के विभिन्न विषयों पर भी उनके साथ चर्चा करते। और स्वामीजी बहुधा अपने प्रिय विषयों – कर्म तथा सेवा की ओर उन्मुख हो जाते। रूढ़िवादी हिन्दुत्व पर अत्यधिक बल देनेवाले वाराणसी के पण्डितों के प्रतिनिधि-रूप इन निष्ठावान ब्राह्मण के मन में वे अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक बैठाने में सफल हुए थे।

पण्डितजी ने स्वामीजी के लिये संस्कृत में एक अभिनन्दन लिखकर उसे कलकत्ते से छपवा रखा था। परन्तु जब वे स्वामीजी से मिलने जाते, तो इतने भावविभोर होते कि वे हर बार उसे साथ ले जाना भूल जाते। एक दिन उन्होंने उसे साथ लिया और स्वामीजी से मिलने जा रहे थे। रास्ते में चारुबाबू और मैं उनसे मिल गये। हमने पूछा – "पण्डितजी, स्वामीजी के बारे में आपका क्या विचार है?" उन्होंने तत्काल उत्तर दिया – "वे एक सच्चे योगी हैं और इसीलिये मैं प्रतिदिन उनका दर्शन करने जाता हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि उन्हें

इतनी प्रसिद्धि प्रदान करनेवाले उनके व्याख्यान, आत्मा को उन्नयन करनेवाली उनकी शक्ति की तुलना में गौण हैं। उनके भीतर जो दिव्य शक्ति खेल रही है, उसका अति सामान्य अंश ही अभिव्यक्त हुआ है। उनकी महानता और शक्ति का मूल्यांकन करना असम्भव है – वे एक असीम समुद्र के समान प्रतीत होते हैं।''

रास्ते में हम लोगों ने देखा कि स्वामीजी एक अन्य गाड़ी में स्वामी शिवानन्द, स्वामी गोविन्दानन्द तथा एक अन्य संन्यासी के साथ भिनगा के महाराजा के उद्यान-भवन की ओर जा रहे हैं। दोनों गाड़ियाँ खड़ी हो गयीं और पण्डितजी ने थोड़े संकोच के साथ स्वामीजी को वह मानपत्र प्रदान किया। स्वामीजी सरसरी तौर पर देखकर ही उसका मर्म समझ गये और विनयपूर्वक बोले – ''पण्डितजी, आपने यह क्या किया है ! मैं अति सामान्य व्यक्ति हूँ और आपकी इतनी उच्च प्रशंसा तथा स्तुति का अधिकारी नहीं हूँ। मैंने कुछ भी नहीं किया है। ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से ही एक साधारण व्यक्ति को अपना यंत्र बनाकर अपना कार्य करा लेते हैं।''

इसके बाद से पण्डित शिवानन्द प्राय: ही वाराणसी प्रमुख संस्कृतज्ञों के साथ स्वामीजी के बारे में चर्चा किया करते थे। इस प्रकार राखालदास न्यायरत्न आदि अनेक पुरातनपन्थी विद्वान् स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व की दिव्यता के बारे में विश्वास करने लगे। स्वामीजी ने मानो एक चुम्बक के समान पण्डितजी को आकृष्ट कर लिया था और आपस में घनिष्ठ मित्र हो गये थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उनके वाराणसी छोड़कर न जा पाने के कारण स्वामीजी उन्हें आशीर्वाद देने स्वयं ही वहाँ आ गये हैं।

भिनगा के राजा लखनऊ के पास के एक महत्वपूर्ण जमींदार थे। उन्हें अंग्रेजी तथा संस्कृत का अच्छा ज्ञान था और उन्होंने भी अपना बाकी जीवन वाराणसी में बिताने का व्रत लिया था। न केवल नगर, बल्कि वे अपना उद्यान-भवन तक छोड़कर बाहर नहीं निकलते थे। अपने जीवन के अन्तिक दिन वाराणसी के दुर्गा मन्दिर के पास स्थित भिनगा कोठी में ही बिताना उनका उद्देश्य था। वे एक साधक थे और एक संन्यासी के समान रहते थे। जब उन्हें स्वामीजी के आगमन के बारे में ज्ञात हुआ, तो उन्होंने फल, फूल तथा मिठाइयों के साथ स्वामी गोविन्दानन्द को उनके पास भेजा। वहाँ स्वामी शिवानन्द भी उपस्थित थे। स्वामी गोविन्दानन्द ने दोनों को 'नमो नारायणाय' कहकर सम्बोधित किया और बोले – ''महाराजा आपके दर्शन करना चाहते हैं। यदि आप अनुमति दें, तो अपने उद्यान से बाहर न निकलने के व्रत को तोड़कर वे आपसे मिलने आयेंगे।'' स्वामीजी विचलित होकर तत्काल बोले – ''नहीं, नहीं, ऐसा कदापि नहीं होगा। प्रतिज्ञा तोड़ने को कहना अनुचित है। मैं स्वयं ही वहाँ आऊँगा, राजा को यहाँ आने की आवश्यकता नहीं।'' एक या दो दिन के बाद वे स्वामी गोविन्दानन्द तथा स्वामी शिवानन्द के साथ राजा से मिलने उनके उद्यान में गये।

राजा ने स्वामीजी के साथ शास्त्रीय विषयों पर चर्चा की और बातचीत के दौरान उनसे बोले – ''आप बुद्ध और शंकराचार्य के समान एक महापुरुष हैं।'' पूरा वार्तालाप स्वामीजी के प्रति इसी प्रकार की श्रद्धा तथा भक्ति से परिपूर्ण था। राजा अपने पूर्ववर्ती जीवन में एक उत्साही कर्मी थे और उन्होंने स्वामीजी से वाराणसी में एक सेवा-केन्द्र आरम्भ करने का अनुरोध किया और उसका खर्च स्वयं वहन करने का प्रस्ताव किया। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक न था, अत: वे कोई वचन नहीं दे सके। उन्होंने केवल इतना ही कहा – ''अभी तो मैं लौटकर बेलूड़ मठ जा रहा हूँ। स्वास्थ्य में सुधार होने पर मैं अपने कार्य पर और भी अधिक मनोनियोग कर सकूँगा।'' कुछ अन्य विषयों पर चर्चा के बाद स्वामीजी तथा स्वामी शिवानन्द सौधावास लौट आये।

अगले दिन भिनगा के राजा ने अपने एक कर्मचारी के हाथों स्वामीजी के सम्मान में ५०० रुपयों का एक चेक तथा एक पत्र भेजा। स्वामीजी ने शिवानन्दजी से कहा – ''महापुरुष, आप इस रुपये से यहाँ ठाकुर के नाम पर एक मठ की स्थापना कीजिये।'' अगली जुलाई में वहाँ एक उद्यान किराये पर लेकर रामकृष्ण अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई।

एक दिन प्रमदादास मित्र के पुत्र कालीदास मित्र शाम को लगभग ५ बजे स्वामीजी से मिलने आये। उनके पिता स्वामीजी के मित्र रह चुके थे। स्वामीजी अपने पुराने मित्र के पुत्र से मिलकर बड़े आनन्दित हुए। कालीदास बाबू नीचे दरी पर बैठे और बड़े ध्यानपूर्वक स्वामीजी के शब्दों का श्रवण करने लगे। स्वामी शिवानन्द, चारुबाबू, मैं तथा अन्य लोग उनके पास ही बैठे थे। मेरी आयु उस समय बीस वर्ष से कम ही रही होगी और उस दिन स्वामीजी ने जो कुछ कहा था, वह सब मुझे अब याद नहीं है, परन्तु अब आधी शताब्दी के बाद भी वह चित्र मेरे मन में अब भी ताजा बना हुआ है।

महान् और शुद्धचित्त लोग बहुधा दूसरों के मन के प्रश्न पूछे जाने के पूर्व ही जान जाते हैं और उनका उत्तर देने लगते हैं। लन्दन में एक बार अपना व्याख्यान आरम्भ करने के पूर्व स्वामीजी ने कहा – ''आप में से हर व्यक्ति एक कागज के टुकड़े पर एक प्रश्न लिखकर अपनी जेब में रख ले। उन्हें मेरे पास भेजने की जरूरत नहीं है और मैं उनमें से प्रत्येक का उत्तर दूँगा।'' उन लोगों के वैसा ही करने के बाद स्वामीजी दाहिनी ओर मुड़कर बोले – ''आपका प्रश्न यह है।'' इसके बाद उन्होंने देखा कि उनकी बायीं ओर के सज्जन अपना प्रश्न तथा उसका उत्तर सुनने के लिये व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं। अत: उन्होंने बायीं ओर मुड़कर

वैसा ही किया और तदुपरान्त उसका घर, उसमें क्या-क्या है, उसमें कौन-कौन रहता है, इस समय वे लोग क्या-क्या कर रहे हैं, आदि सब बताने लगे। उस व्यक्ति के साथ ही बाकी सभी लोग इस चमत्कारिक दर्शन पर विस्मित रह गये। इसके उपरान्त स्वामीजी ने और भी सात-आठ लोगों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए इसी प्रक्रिया को दुहराया।

स्वामी सारदानन्द काफी काल से मलेरिया से पीड़ित थे। जब इंग्लैंड में थे, तो काफी दुर्बल होकर एक दिन वे बच्चों के समान स्वामीजी के चरणों के पास बैठे हुए थे। उनकी दृष्टि में उनके ये गुरुभाई श्रीरामकृष्ण के ही एक अन्य रूप थे। सारदानन्दजी ने आध्यात्मिक भाव की प्रेरणा से शरणागति के शान्त और विनम्र भाव के साथ स्वामीजी से आशीर्वाद की याचना की और उनसे ज्ञान तथा मुक्ति का वरदान माँगा। स्वामी विवेकानन्द की इच्छा से वे क्षण भर में ही स्वस्थ एवं सबल हो उठे। सारदानन्दजी ने स्वामीजी की इस योगशक्ति का साक्ष्य दिया है। इस घटना के पूर्व उन्हें स्वामीजी की इस शक्ति के बारे में जानकारी नहीं थी। स्वामीजी के भीतर जो अनेक विभूतियाँ आयी थीं, उन्हें बहुत-से लोगों ने अपनी आँखों से देखा और उनमें से कुछ तो अब भी जीवित हैं, परन्तु उनके जीवन का यह पक्ष छिपा रहा, क्योंकि वे इसके प्रदर्शन से घृणा करते थे।

कालीदास मित्र कला के विशेष अनुरागी थे और इस विषय का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। एक दिन वे आकर ज्योंही स्वामीजी के कमरे में बैठे, उनके विचारों तथा भावों से स्वामीजी का मन स्पन्दित हो उठा। स्वामीजी की मुखमुद्रा, कण्ठ-स्वर तथा अंग-भंगिमा बिल्कुल बदल गयी। कालीदास पर एक दृष्टि डालने के बाद वे कला-शास्त्र, चित्रकला, इससे सम्बन्धित अन्य शाखाओं, यहाँ तक कि विभिन्न देशों की वेशभूषा और प्रकृति के साथ कला के सम्बन्ध तथा उसकी अभिव्यक्तियों पर बोलने लगे। ऐसा लग रहा था मानो वे कलाकारों तथा चित्रकारों की किसी सभा में कोई बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण तथा मनोरंजक व्याख्यान दे रहे हों। उनकी बातें सुनकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे स्वयं ही एक ऐसे चित्रकार या कलाकार हैं, जिन्होंने अपना पूरा जीवन इसी विषय के अभ्यास में लगा दिया हो। रंगो का तारतम्य, विभिन्न रंगों के सम्मिश्रण से बननेवाले उसके प्रकार, सुन्दरता, मुद्राएँ, नेत्रों के विभिन्न कोण तथा स्थिति, कमर, वक्षस्थल, विभिन्न भंगिमाएँ तथा मनोभाव आदि विषयों पर वे बोले। मेरी आयु कम थी, इसलिये पूरी तौर से उस विषय को समझ नहीं सका, परन्तु इस बात में मुझे जरा भी सन्देह नहीं था कि उन्होंने सामान्य रूप से कला और विशेष रूप से चित्रकला पर एक अद्भुत व्याख्यान दिया था। इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने विभिन्न देशों – इटली, फ्रांस, चीन, इरान, जापान और बौद्ध तथा मुगल भारत की चित्रकला की विभिन्न परम्पराओं की तुलनात्मक चर्चा करते हुए उनका भेद भी बताया।

फ्रांस में एक बार स्वामीजी को एक प्रसिद्ध नाट्यशाला से नाटक देखने का निमंत्रण मिला। उसके चित्रपट तथा परदे एक विशिष्ट कलाकार द्वारा चित्रित किये गये थे। वह नाट्यशाला तथा वे चित्रकार उस काल के पेरिस में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। स्वामीजी फ्रांसीसी भाषा जानते थे और नाटक को समझ सकते थे। उन्होंने देखा कि पृष्ठभूमि के चित्र में कुछ तकनीकी भूलें थीं। नाटक समाप्त हो जाने पर उन्होंने प्रबन्धक को बुला भेजा। वे कुछ अन्य लोगों के साथ दौड़ते हुए आये, क्योंकि सभी लोग अपने सम्माननीय तथा प्रसिद्ध मेहमान का मत जानने को उत्सुक थे। जब स्वामीजी ने चित्रित पृष्ठभूमि में कुछ तकनीकी भूलों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया, तो वे लोग चकित रह गये, क्योंकि उस चित्र को कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता था और प्रशिक्षित आँखें भी उस भूल को पकड़ नहीं सकी थीं। चित्रकार ने स्वीकार किया कि स्वामीजी का कथन सही है और पट पर अंकित नर-नारियों के भावों में सामंजस्य लाने के विषय में उनके सुझाव सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुआ। वे समझ गये कि स्वामीजी अन्य विषयों के समान ही चित्रकला की बारीकियों से भी सुपरिचित हैं।

हमने एक अन्य ऐसी ही घटना के बारे में सुना है। इंग्लैंड में मिस मूलर तथा कुछ अन्य लोगों के साथ स्वामीजी प्रोफेसर वेन* से मिलने गये। Logic of Chance (संयोगवाद) नामक प्राध्यापक की सुप्रसिद्ध पुस्तक उक्त विषय पर उनके गहन ज्ञान का निदर्शन थी। मिस मूलर ने उनसे तर्कशास्त्र का अध्ययन किया था। उन्होंने अपना पूरा जीवन तर्कशास्त्र के अध्ययन में बिता दिया था और उन्हें पूरे यूरोप में उस विषय का विशेषज्ञ माना जाता था। प्राध्यापक ने स्वामीजी के बारे में सुन रखा था, पर चूँकि उन्हें दार्शनिक समस्याओं में कोई रुचि न थी, उनकी चर्चा तर्कशास्त्र की ओर उन्मुख हुई। जब स्वामीजी तर्कशास्त्र पर बोलने लगे, तो प्राध्यापक ने सोचा कि उन्होंने भी मेरे ही समान केवल इसी विषय पर पूरा जीवन लगा दिया है और बोले – "आज भारत का एक तर्कशास्त्री पश्चिम के एक अन्य तर्कशास्त्री से मिलने आया है।"

* John Venn, Sc. D., F.R.S. (1834-1923)
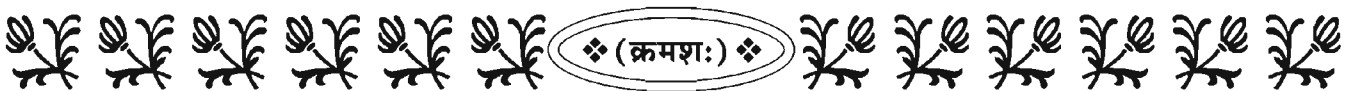
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

५०. मौन गहै, सबकी सहै

जहाँगीर बादशाह को शिकार का बड़ा शौक था। एक बार वह शिकार करने जंगल में गया। वहाँ उसे एक कुटिया दिखाई दी। समीप जाने पर उन्हें एक व्यक्ति जप करता हुआ दिखाई दिया। सिपाहियों ने कहा – ''देखते नहीं, बादशाह सलामत आये हुए हैं। तुम्हें उठकर उनको सलाम करना चाहिये। तुम तो अपने इबादत में इतने मशगूल हो कि तुम्हें चारों तरफ देखने का ख्याल ही नहीं है।'' वह व्यक्ति सिपाहियों के शब्दों पर ध्यान न देकर अपने जप में ही लीन रहा। वह कुटिया संन्यासी भगवानदास की थी और उन्होंने नारायण-दास नामक इस शिष्य को अपने वापस आने तक मौन व्रत धारण करने को कहा था। बादशाह को सिपाहियों द्वारा बताये जाने पर भी उनके न उठने पर बादशाह ने उसे अशिष्टता समझा और क्रोध में आकर आदेश दिया – ''इस घमण्डी को पकड़कर कैदखाने में बन्द कर दो।'' सिपाहियों ने बादशाह के हुक्म का पालन किया।

बाद में जहाँगीर कैदखाने में गया और उसने नारायणदास से पूछा – ''बादशाह को सलाम न करने की जुर्रत तुमने कैसे की।'' पर नारायणदास खामोश ही रहे। उसकी इस खामोशी ने बादशाह के गुस्से की आग में घी जैसा काम किया। बादशाह का चेहरा तमतमा उठा और उसने आदेश दिया – ''इस मगरूर को जहर पिलाया जाय।'' सिपाही तत्काल एक कटोरी जहर ले आये और नारायणदास को देकर उसे पीने को कहा। नारायणदास ने चुपचाप कटोरी को उठाकर होठों से लगाया और देखते-ही-देखते खाली भी कर दिया। जहर का उन पर कोई असर न देख बादशाह झुँझला उठा। उसने उसी कटोरी में दुबारा जहर मँगाकर एक बिल्ली को पिलवाया। घूँट भर पीते ही बिल्ली वहीं लुढ़क गई। बिल्ली के लुढ़कते ही बादशाह के शरीर में बेहद पीड़ा होने लगी और मारे पीड़ा के वह जमीन पर लौटने लगा।

भगवानदासजी को जब दूसरे शिष्यों द्वारा नारायणदास को बादशाह द्वारा कैद में डालने की बात मालूम हुई, तो वे कैदखाने में आये और जहाँगीर को जमीन पर निश्चल पड़े देखकर बोले – ''जहाँपनाह, आपने केवल बेकसूर इंसान को ही नहीं, बल्कि बेकसूर प्राणी को भी मौत के मुँह में डालने की कोशिश की। उसी के फलस्वरूप आपको पीड़ा सहनी पड़ रही है।'' फिर उन्होंने मन-ही-मन भगवान से बादशाह को स्वस्थ करने की प्रार्थना की और देखते-ही-देखते जहाँगीर के शरीर में हलचल हुई और वह उठ बैठा। उसने सिपाहियों से नारायणदास को रिहा कर देने को कहा।

भगवानदास ने जहाँगीर से कहा – ''जहाँपनाह, दूसरों का कभी बुरा मत चाहो। यदि बुरा करोगे, तो तुम्हारा ही बुरा होगा। फिर यह तो मौन-व्रत धारण किये हुए था। मनुष्य के लिये एकान्त में मौन रखना बड़ा ही लाभकारी होता है। इससे मन में कोई बुरे भाव नहीं आ पाते। उस समय मौनधारी व्यक्ति का संसार और अपने शरीर की तरफ ध्यान नहीं रह जाता। इसलिये ऐसे मौनधारी पर कभी जुल्म नहीं ढाना चाहिये। इससे अपना ही अहित होता है।''

५१. यह पगड़ी झुकती नहीं

शीतल नामक एक भाट को किसी काम से अकबर बादशाह के दरबार में जाना पड़ा। शीतल एक स्वाभिमानी राजपूत था और महाराणा प्रताप व अन्य राजपूत राजाओं के वीररस से ओतप्रोत गीत सुनाकर लोगों में देशभक्ति, स्वाभिमान और त्याग के भाव जगाने की कोशिश करता था। दरबार में आकर वह बादशाह के समक्ष चुपचाप खड़ा हो गया। अकबर ने इसे उसकी अशिष्टता माना और उसे गुस्सा आ गया। उसने शीतल से कहा – ''मैंने सुना था कि राजपूताने के चारण शिष्टाचार का बराबर पालन करते हैं, लेकिन शायद तुम उनमें से नहीं हो, इसीलिये तुमने मेरे दरबार में आकर भी मेरा अभिवादन करने की जरूरत नहीं समझी। लगता है तुम खुद को बादशाह से भी ऊँचा समझते हो।''

शीतल ने निर्भीकता से जवाब दिया – ''जहाँपनाह, क्षमा करें, मैं तो एक अदना-सा राजपूत हूँ। आपकी बराबरी का या स्वयं को आपसे श्रेष्ठ समझने की धृष्टता मैं भला कैसे कर सकता हूँ? आपके सामने मेरे सिर न झुकाने की वजह यह है कि एक बार मेरे स्वामी महाराणा प्रताप ने मेरा काव्य सुनकर खुशी में यह पगड़ी मुझे भेंट की थी। और आप इस बात से अच्छी तरह वाकिफ हैं कि हमारे महाराणा ने अपने दुश्मन के आगे कभी अपना सिर नहीं झुकाया। जब वे अपना सिर नहीं झुका सकते थे, तो उनकी पगड़ी को आपके सामने झुकाने का दुस्साहस मैं भला कैसे कर सकता हूँ। हाँ, आप मुझसे पद में और उम्र में बड़े है, इसलिये शिष्टाचार के अनुसार मुझे आपका अभिवादन करना चाहिये। तब उसने पगड़ी उतारकर हाथ में ले लिया और सिर झुकाकर कहा – ''आपको पगड़ी नहीं, शीतल अभिवादन करता है।''

❑❑❑

माँ श्री सारदा देवी (१०)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ के कमरे के बरामदे में एक पिंजरा लटका रहता। उसमें 'गंगाराम' नाम का तोता रहता था। उसे घर के सभी लोग – "बोलो, बेटा गंगाराम" – कहकर तंग करते, मगर सुदीर्घ काल के दौरान मैंने कभी उसे एक शब्द भी बोलते नहीं सुना। तो भी उसे पिंजड़े में इधर-से-उधर घूमते और अपनी जाति अनुसार 'टें-टें' करते लाखों बार देखा सुना है। खाने में वह विशेष पटु था, इसकी गवाही देने को मैं सदा प्रस्तुत हूँ। वरदा-मामा उसे कहीं से ले आये थे और शायद यह सोचकर माँ के यहाँ रख दिया था कि उसे खाने की सुविधा होगी।

वरदा मामा के पास एक कुत्ता था। एक दिन वह सहसा गायब हो गया। बहुत खोजबीन के बाद मामा को आखिर में वह सिंहड़ गाँव के किनारे एक गृहस्थ के घर पर मिला, लेकिन उन गृहस्थ के पास से वे उसे ला नहीं सके। उसी समय भाग्यवश मित्र ललित साहबी पोशाक पहनकर पालकी से जयरामबाटी आ पहुँचे। वरदा मामा माँ से अनुनय-विनय करने लगे कि ललित को कुत्ता छुड़ा लाने के लिए भेज दें। माँ ने नाराज होकर लेखक से कहा। यथासमय कुत्ता लौट आया। गृहस्वामी ने ललित को पोशाक में देखकर शायद दरोगा समझ लिया था।

ठाकुर से आदेश पाकर योगीन महाराज बड़ाबाजार से एक कड़ाही खरीद लाये थे। पूछताछ करने पर ठाकुर को पता चला कि वे दो-चार दुकानों पर कीमत मिलाये बिना एक ही दुकान से, दुकानदार ने जो दाम बताया, उसे देकर ले आये हैं। यह सुनकर ठाकुर उन्हें डाँटते हुए बोले – "भक्त है, तो बुद्धू क्यों होगा? – जा नौबत से मंत्र ले ले।" यहीं उनका माँ से दीक्षित होने का सुत्रपात हुआ था।[३७]

कहते हैं कि ठाकुर के शिष्यों ने माँ को आपाद-मस्तक (श्रीचरणों के अलावा) चादर से ढँका ही देखा है। कहीं-कहीं इस नियम का व्यक्तिक्रम भी वर्णित हैं। सारदा महाराज ने माँ से दीक्षा ग्रहण करते समय बीज के साथ मंत्रोच्चारण सुना था और हाथ से जप करने की पद्धति सीखते समय उनका दाहिना करतल भी देखा था। योगीन महाराज के समय भी ऐसा ही हुआ था।

माँ के एक शिष्य आयु में लेखक से ज्येष्ठ थे। उनका घर कलकत्ते के सर्पेन्टाइन लेन में था। दीक्षित होने के पूर्व तक वे एक मूर्ति-विशेष के उपासक थे। पर दीक्षा के समय उन्हें बिल्कुल अलग इष्टमूर्ति मिली। इसके फलस्वरूप उनके मन में बड़ा अर्न्तद्वन्द शुरू हो गया – जीवन सूना-सूना लगने लगा। वे काफी हताश हो उठे। इसी प्रकार कुछ दिन बिताने के बाद उन्हें एक अन्य भाई की सहायता से माँ को अपनी अवस्था बताने का सुयोग मिला। माँ बोलीं – "मंत्र ठीक है।" माँ की इतनी ही वाणी के प्रभाव से उनका मन धीरे-धीरे स्थिर हुआ और फिर उनके हृदय में अशान्ति की जगह महाशान्ति विराजने लगी।

कई वर्षों तक, भक्तों द्वारा माँ को लिखित पत्रों को पढ़ने और उनका उत्तर लिखने का भार लेखक पर था। इसी दौरान एक बार एक ऐसा नया अनुभव हुआ, जिसे मैं आज तक नहीं भूल सका हूँ। माँ के नाम की चिट्ठियाँ न तो पहले खोली जातीं और न पढ़ी जातीं। प्रतिदिन निर्दिष्ट समय पर माँ के सामने ले जाकर उन्हें खोला और पढ़ा जाता।

उस दिन पाँच चिट्ठियाँ आई थीं। तीन पोस्टकार्ड और दो लिफाफे थे। लेखक ने एक लिफाफा खोलकर पढ़ना शुरू किया। पत्र जनाई से श... ने लिखा था। उन्होंने लिखा था – "माँ, श्रीचरणों में शतकोटि प्रणामपूर्वक निवेदन यह है कि दास ... " आगे पढ़ना नहीं हुआ। छः पृष्ठों का पत्र था, मन-ही-मन पढ़ने में थोड़ा समय लगा। माँ तब तक (लेखक की ओर) एकटक देखती रहीं। उनकी तरफ देखते ही छाती धड़-धड़ करने लगी। सोचने लगा – पूछने पर क्या उत्तर दूँगा? उत्तर न सोच पाने के कारण उसे अलग रखकर वह दूसरा पत्र पढ़कर सुनाने लगा। माँ ने चुपचाप सब सुना। क्या-क्या उत्तर लिखना होगा, सब बता दिया। सब समाप्त होने पर माँ ने पूछा – "उसे क्यों नहीं पढ़ा?" लेखक के सिर पर तो असमान टूट पड़ा। क्या उत्तर दे? एक तो गुरु – उस पर मातृरूपा – और मातृरूपा क्या स्वयं माँ ! कभी

३७. ठाकुर के देहत्याग के बाद जब माँ वृन्दावन में थीं, उसी समय योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द) की मंत्र-दीक्षा हुई थी।

भी माँ को न बताने योग्य उसके जीवन में कुछ नहीं है। तो भी इस पत्र को वह कैसे पढ़े? उसमें विगत जीवन की ऐसे कुकर्मों का वर्णन लिखा हुआ है, जो मनुष्य के लिये सम्भव हो सकता है, यह मनुष्य मात्र के लिए ही कल्पनातीत है। फिर उसके साथ ही कैसी निर्भयता और कैसी निष्कपटता के साथ उन्होंने अपनी पापों को प्रकट किया है ! इसकी प्रशंसा किये बिना भी नहीं रहा जा सकता।

अस्तु। सूखे होठों तथा कम्पित स्वर में लेखक ने उत्तर दिया – "कैसे पढ़ूँ, माँ? पढ़ नहीं पा रहा हूँ।" माँ बोलीं – "समझ गयी, पढ़ना नहीं होगा। उसे ऐसा पत्र लिखने से मना कर दो। मेरे पत्र लड़के-लड़कियाँ पढ़कर सुनाते हैं। गाँव में किसी शिष्य के न रहने पर भाई लोग पढ़ते हैं। और लिख दो – "पहले तुम राहु-चन्द्रमा थे और अब ठाकुर के आश्रय में आकर पूर्णिमा की सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा हो गये। चिन्ता कैसी? ठाकुर ही सब ठीक कर देंगे।"

पाठक-पाठिकाओ ! माँ की इस उक्ति में क्या आप लोगों ने कुछ साहित्यिकता का पुट देखा? यदि देखा हो, तो इसके साथ ही यह भी मत भूल जाइयेगा कि आप लोगों की माँ आपके ठाकुर के समान ही प्राय: निरक्षर थीं।

एक बार माँ मँझली मामी को डाँट रही थीं – "तुम लोग एक-आध बच्चों को लेकर परेशान रहती हो – देखभाल नहीं कर पाती और मुझे हजारों बच्चे-बच्चियों की देखभाल करनी पड़ती है – कोई साधु है, कोई असाधु है – कभी दिमाग खराब करके आकर कहता है – 'माँ, मुझे पार करो।' ये सब बातें तुम लोग समझोगी क्या? उन लोगों का तो वैसा आधार नहीं है। तुम लोग तो रुपया, धान, घर-द्वार ही जानती हो ! तुम लोग जैसी आयी हो, वैसी ही चली जाओगी। कहते हैं – बड़े भाग्य से मनुष्य का जन्म मिलता है। उस मनुष्य जन्म को पाकर तुमने किया क्या?"

जयरामबाटी में एक बार मुझे बुखार हुआ और कई दिन रहा। उस बुखार के समय माँ की उद्विग्नता और परिश्रम की बात याद आने पर बड़ा कष्ट होता है, फिर कभी-कभी लगता है कि बड़े भाग्य से उनके हाथों की सेवा मिली। उनकी सुश्रूषा जीवन में कभी भूलनेवाली नहीं है। जिस परिश्रम के साथ उन्होंने सुश्रूषा की थी और उसमें जो दक्षता दिखाया था, उससे लगा था कि एक प्रशिक्षित परिचारिका से किसी प्रकार कम नहीं थी। उनके ऐसा करने पर उस समय यह सोचकर मन में धिक्कार आता था कि कहाँ तो सन्तान माँ की सेवा करेगा, उसकी जगह माँ ही सन्तान की सेवा कर रही हैं। मैंने उन्हें मना करने का प्रयास किया, पर उनकी डाँट खाकर चुप रह जाना पड़ा है। उनकी बस वही एक उत्तर होता – "माँ नहीं करेगी, तो क्या मुहल्ले के लोग करेंगे?"

बुखार बढ़ने पर जब वे सिर सहलाती, तब उन्हें सुनाई न दे, इसीलिये मन-ही-मन गाता –

योगीन्द्र मुनीन्द्र इन्द्र जे चरण ध्याने ना पाय।
निर्गुण कमलाकान्त तबू से चरण चाय।।

– "योगिश्रेष्ठ, मुनिश्रेष्ठ और देवराज इन्द्र ध्यान करके भी जिन चरणों को नहीं पाते, कवि कमलाकान्त सभी गुणों से हीन होकर भी उन चरणों को पाने की आशा करता है।"

इसी प्रकार एक दिन बुखार चढ़ा था और वे सिर सहला रही थीं। अच्छी तरह याद है, बुखार की हालत में ही मैंने उनके दोनों चरण जोरों से पकड़कर पूछा – "बताना होगा कि आप कौन है? आज नहीं छोड़ूँगा।" तत्काल उत्तर मिला – "इस सबसे तुम्हें क्या? तुम्हारे लिए मैं माँ हूँ।" हार मानकर मैंने वर माँगा – "यही स्नेह मुझे सर्वदा तक मिलता रहेगा न?" उत्तर मिला – "हाँ, यहाँ ज्वार-भाटा नहीं है।"

एक बार ठाकुर के देहत्याग के दिन का प्रसंग उठाकर कहने लगीं – "जब ऐसा हुआ, तो लोकाचार मानकर मैं हाथ के कंगन निकालने जा रही थी, देखा – ठाकुर सामने खड़े हैं, बोले – मैं गया कहाँ हूँ, जो कंगन निकाल रही हो? बस, इस कमरे से उस कमरे में गया हूँ। हाथ के कड़े हाथ में ही रहे, निकालना नहीं हुआ। सोचा – लोगों को जो कहना हो, कहें – नहीं निकालूँगी। और एक बार वृन्दावन में र... के कटाक्ष पर खोलने गयी, तो ऐसा ही देखा।"

– "क्या ठाकुर आपको हमेशा दर्शन देते हैं, अभी भी आपके हाथों खाते हैं?"

– "हम क्या अलग-अलग हैं?" – उत्तर देने के साथ-ही माँ जीभ काटकर बोलीं – "क्या कह बैठी?"

छोटी मामी के कुछ गहने थे। उनके पिता उन्हें सुरक्षित रखने के बहाने उसे फुसलाकर ले गये। बाद में माँगने पर दे नहीं रहे थे। मित्र ललित के जयरामबाटी जाने पर माँ ने गहने छुड़ाने के लिए उन्हें माझटिया गाँव भेजा। ब्राह्मण ललित को दरोगा समझकर डर से काँपने लगे। ललित ने गहनों के साथ उन्हें माँ के सामने हाजिर किया और नाक-कान पकड़वाने के बाद पुत्री के जेवर वापस दिलवाकर उन्हें छोड़ दिया।

१९०३ ई. में जयरामबाटी-निवास के दौरान लेखक को शरत् महाराज का पत्र मिला, जिसमें लिखा था – गिरीशचन्द्र की शारदीय पूजा करने की इच्छा है और उनकी तथा न-दीदी (गिरीशचन्द्र की दीदी का नाम दक्षिणा था) – दोनों की हार्दिक इच्छा है कि माँ उस समय वहाँ उपस्थित रहें – उनके उपस्थित न रहने पर उन लोगों की पूजा व्यर्थ होगी, अत: उन्हें लिवा जाने की वह यथासाध्य चेष्टा करे और जाना निश्चित होने पर वे लोग खर्च के रुपये भेज देंगे। माँ का स्वास्थ्य उस समय बहुत खराब था, फिर भी उन्हें राजी कराया गया। छोटी मामी और राधू भी उनके साथ चलीं।

यथासमय विष्णुपुर पहुँचकर एक चट्टी में सहसा मास्टर महाशय तथा ललित से भेंट हुई। उन लोगों ने सबके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करके रखा था। उनसे पता चला कि कलकत्ते में दंगा चल रहा था और रात को वहाँ अँधेरा रहता है, इसीलिए वे लोग आगे बढ़कर लेने आये हैं।

संध्या के बाद हावड़ा स्टेशन पहुँचने पर गणेन्द्रनाथ और ललित घोड़ागाड़ी में दिखे। गणेन्द्रनाथ ने बताया कि शरत् महाराज और गिरीशचन्द्र का कहना है कि माँ को हावड़ा स्टेशन से नाव में सीधे बागबाजार के घाट पर ले जाया जाय – इसमें कोई भय की बात नहीं है। पर माँ नाव पर चढ़ने से डरती थीं, इसलिए ललित के कम्पास गाड़ी में माँ आदि को बिठाकर एक ओर की पाँवदान पर ललित और दूसरी ओर लेखक, कोच-बाक्स पर गणेन्द्रनाथ और पीछे सामान के साथ मास्टर महोदय को बिठाकर गंगा के किनारे कुमारटोली घाट की तरफ चले। बाद में कुमारटोली के भीतर राजबल्लभ मुहल्ले से होकर बलरामबाबू के घर पर पहुँचे। यहीं पर माँ के ठहरने की व्यवस्था थी। रास्ते में किसी प्रकार की परेशानी नहीं हुई। केवल एक बार लड़कों का एक दल आया, पर महिलाओं को देखकर लौट गया।

अगले दिन सुबह गिरीशचन्द्र तथा न. दीदी माँ को प्रणाम करने और निमंत्रण देने आये। न. दीदी बोली – "गिरीश तो हठ किये बैठा था, माँ। कहता था – माँ के आये बिना पूजा कैसे करूँगा? – करूँगा ही नहीं।"

अभी भी पूजा में देर है। माँ को लाने के बाद मुझे फिर बुखार आया। सुप्रसिद्ध डॉक्टर विपिनबिहारी घोष ने मुझे देखा और दवा तथा साबूदाना खाने की व्यवस्था की। शरत् महाराज डॉक्टर के आदेश का अक्षरश: पालन करते थे। पर मैं साबूदाना नहीं खा पाता था। केवल माँ ही इसे जानती थीं, लेकिन वे घर के भीतर रहती थीं, दूसरे का मकान था, अत: बार-बार दर्शन-मुलाकात नहीं हो सकता था। चुपचाप हॉल में एक किनारे पड़ा रहा। दूसरी तरफ शरत् महाराज थे।

करीब नौ बजे शरत् महाराज की नजर बचाकर बाहर से राधू ने इशारे से मुझे बुलाया और थोड़े-से फल तथा मिठाई हाथ में देकर बोली – "माँ ने दिया है।" चुपचाप खाकर सो गया। माँ इसी प्रकार दोपहर में रोटी-मिठाई, शाम को फल-मिठाई और रात में शरत् महाराज की अनुपस्थिति में भरपेट रोटी-सब्जी भेजतीं। इधर घर के भीतर से साबूदाना भी आता। साबूदाना फेंककर मैं शरत् महाराज के भय से सब्जी की कटोरी के ऊपर साबूदाने की कटोरी रख देता। माँ ने इसी प्रकार चुपके-चुपके मुझे खिलाकर निरोग किया था।

गिरीशचन्द्र की दुर्गापूजा धूमधाम से शुरू हुई। माँ के समक्ष कल्पारम्भ हुआ। गिरीशचन्द्र और न-दीदी आनन्द से परिपूर्ण थे। गिरीशचन्द्र लेखक से बोले – "माँ को लाकर तूने मुझे खरीद लिया।" न-दीदी ने पिछले वर्षों के समान इस वर्ष भी एक नया वस्त्र दिया। महासप्तमी के दिन सुबह से ही बलराम बाबू के घर पर भक्तों का आगमन होने लगा। माँ के पास इसके पहले कभी इतने भक्तों का समागम नहीं देखा गया था। लोग दल-के-दल आकर कोई प्रणाम करते, कोई पुष्पांजलि देते और माँ घण्टों एक ही मुद्रा में खड़ी भक्तों के प्रणाम तथा पूजा ग्रहण करतीं। वह एक अभूतपूर्व दृश्य था। उस दिन पूजा के समय खबर आने पर गिरीश-भवन में जाकर पूजा के अन्त तक रहीं। वहाँ भी उन्हें विश्राम नहीं मिला। निरन्तर भक्तों की पूजा ग्रहण करनी पड़ी। एक ही दालान में एक ओर मूर्ति के चरणों में स्तूपाकार पत्र-पुष्प आदि पड़े थे और दूसरी ओर सजीव मूर्ति – माँ के चरणों में भक्तों के भक्ति-अर्घ्य-चिह्न-स्वरूप बिल्व तथा तुलसी-पत्रों के साथ चन्दन-चर्चित कमल, जवा आदि विभिन्न प्रकार के पुष्पों के ढेर। वह एक कल्पनातीत अपूर्व शोभा थी।

माँ ने सभी भक्तों की मनोवांछा पूर्ण की, कोई भी वंचित नहीं रहा। पर वे मिट्टी की प्रतिमा तो थीं नहीं – मानव शरीर धारण की हैं, तो उस पर मानव शरीर की चिरन्तन नियमावली ही तो लागू होगी। एक तो जयरामबाटी से ही वे अस्वस्थ थीं और उस रात उनका स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया।

महाष्टमी आयी। विधि के अनुसार यह पूजा का सर्वश्रेष्ठ दिन है। खूब सबेरे से ही माँ के पास भक्तों का अविराम ताँता लग गया – स्त्रीभक्त, पुरुषभक्त, त्यागीभक्त, गृहीभक्त। सबने मधुमक्खियों की भाँति माँ को घेर लिया। सबकी एक ही इच्छा थी – उनके चरण-कमलों में भक्ति-अर्घ्य प्रदान करना। गिरीश-भवन में भी वैसा ही हुआ। रुग्ण शरीर में भी माँ जरा भी कातर नहीं हुईं, भक्तों की साध पूरी करने के लिए उन्होंने अविचल भाव से चादर से सिर ढँके सबकी पूजा ग्रहण किया। दिन भर के श्रम के फलस्वरूप बुखार हो आया। वे लेट गयीं। एक तो जीर्ण शरीर और उस पर इतना श्रम। निश्चित हुआ कि वे सन्धि-पूजा के समय वहाँ न जा सकेंगी। यह समाचार गिरीशचन्द्र और न-दीदी को भेज दिया गया। दोनों ही दुखी होकर खेद प्रकट करने लगे।

उस वर्ष सन्धि-पूजा गहरी रात में थी। हम लोग सो चुके थे। गोलाप-माँ जगाकर बोलीं – "माँ को ले जाना होगा – माँ जायेंगी – इस समय थोड़ा ठीक महसूस कर रही हैं।"

बलराम-भवन के पश्चिम की ओर की पतली गली से होकर, मैं माँ और स्त्री-भक्तों को ले गया। रास्ते में पूछने पर पता चला कि तबीयत ठीक न होने के बावजूद माँ गिरीश के सन्तोष के लिए जाने को दृढ़-संकल्प थीं – शरीर चल नहीं रहा था, तो भी वे मानो उसे बलपूर्वक चला रही थीं।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

उपहारों के साथ बुरे इरादे भी आते हैं

डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

हमें अपने जीवन में दीर्घ काल से सँजोयी हुई सभ्यता से विरासत में कुछ अच्छी चीजें मिली हैं। अब समय आ गया है कि हम जीवन के सभी क्षेत्रों में नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिये एक गहन और व्यापक क्रान्ति शुरू करें। हमारा दायित्व है कि हम एक नये परिवेश की रचना करें।

मैं मानसिकता में अहम परिवर्तन करने की जरूरत पर चर्चा करूँगा। पारदर्शिता घर से शुरू होती है। २१ नवम्बर २००५ को मैंने आदिचुनचुनगिरि मठ का दौरा किया और धर्म तथा प्रबुद्ध नागरिक संगठन न्यास के एक सामारोह में भाग लिया। वहाँ की कम्पोजिट हाईस्कूल शिमोगा की एक दसवीं कक्षा की छात्रा एस. भवानी ने मुझसे एक प्रश्न किया – महोदय, हमारे देश में कैंसर की तरह घुस चुके भ्रष्टाचार को रोकने में विद्यार्थियों की क्या भूमिका है? मेरे लिये यह एक महत्वपूर्ण सवाल था। मैंने कहा कि देश में एक अरब लोग हैं और करीब बीस करोड़ घर हैं। आमतौर पर सभी अच्छे लोग हैं, फिर भी अगर हमें लगे कि कुछ लाख घरों में रहनेवाले लोग पारदर्शी नहीं हैं और कानून का पालन नहीं कर रहे हैं, तो हमें क्या करना चाहिये? यदि इन घरों में रहने वाले माता-पिता पारदर्शिता के पथ से भटक रहे हैं, तो बच्चे प्यार और स्नेह दिखाकर अपने माता-पिता को सही रास्ते पर ला सकते हैं। मैंने वहाँ मौजूद सभी बच्चों से पूछा कि क्या कुछ बच्चों के माता-पिता पारदर्शिता के पथ से भटक गये हैं? क्या आप उन्हें यह बताने की हिम्मत करेंगे कि वे उस सही रास्ते पर नहीं चल रहे हैं, जो हमें आप सिखाते हैं? ज्यादातर बच्चों ने जवाब दिया कि हम ऐसा ही करेंगे। उन्हें यह मालूम हुआ कि उनके पास प्यार रूपी अस्त्र है।

मैं एक अन्य विषय पर चर्चा करूँगा, जिसका सम्बन्ध उपहारों के लेन-देन से है। उपहार लेने से मानव जीवन की गरिमा नष्ट हो जाती है। १९४० ई. में रामेश्वरम् में पंचायत बोर्ड के चुनाव हुये थे। मेरे पिता पंचायत बोर्ड के सदस्य चुने गये और उसी दिन उन्हें रामेश्वरम् पंचायत बोर्ड का अध्यक्ष भी चुन लिया गया। उस दौरान मैं रामेश्वर पंचायत स्कूल में चौथी कथा में पढ़ता था। उन दिनों बिजली नहीं होती थी। हम मिट्टी के तेल का दीया जलाकर पढ़ाई करते थे। मैं ऊँची आवाज में अपना पाठ याद कर रहा था कि किसी ने घर का दरवाजा खटखटाया। किसी ने अन्दर आकर मुझसे मेरे पिताजी के बारे में पूछा। मैंने बताया कि पिताजी शाम की नमाज अदा करने गये हैं। उसने पूछा कि वह उनके लिये कुछ सामान लेकर आया है। क्या वह यहाँ रख दे? चूँकि मेरे पिताजी नमाज के लिये बाहर गये थे और माँ भी नमाज अदा कर रही थीं, इसलिये मैंने उस व्यक्ति से सामान वहीं चारपाई पर रखने के लिये कह दिया।

इसके बाद मैं पढ़ाई करने लगा। कुछ देर बाद मेरे पिताजी आये और उन्होंने चारपाई पर रखी डलिया देखी। उन्होंने मुझसे पूछा कि यह क्या है? यह किसने दी है? मैने कहा कि कोई व्यक्ति आया था और आपके लिये यहाँ रख गया था। उन्होंने देखा कि डलिया में एक महँगी धोती, अंगवस्त्रम् और कुछ फल तथा मिठाइयाँ रखी थीं। सामान के साथ रखी एक पर्ची भी उन्होंने देखी। मैंने पहली बार उन्हें इतने गुस्से में देखा और पहली बार उन्होंने मेरी पिटाई भी की। मैं डरकर रोने लगा। मेरे पिता ने स्नेह से मेरे कन्धे पर हाथ रखा और बिना उनकी इजाजत के कोई भी उपहार न लेने की सलाह दी – 'यह अच्छी आदत नहीं है। स्वार्थवश उपहार लेना बहुत गलत है।' उन्होंने हदीस में वर्णित एक आयत सुनाई, जिसका अर्थ है – उपहारों के साथ बुरे इरादे भी आते हैं।

मैं आप सभी से और खासतौर से युवाओं से कहना चाहूँगा कि वे किसी भी उपहार के प्रभाव में न आयें, क्योंकि इससे व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो बैठता है।

(गणतंत्र दिवस की पूर्वसंध्या पर राष्ट्र के नाम सम्बोधन से)

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ठाकुर के वीरभक्त की मर्यादा की रक्षा के लिए लड़खड़ाते हुए चल रही थीं। उस समय गिरीश-भवन की गली का द्वार बन्द था। उन्हें प्रतीक्षा करने को कहकर गली का द्वार खुलवाने हेतु मुख्य-द्वार से भीतर जाकर देखा, इस बीच माँ द्वार खटखटाते हुए कह रही हैं – "मैं आयी हूँ।" व्याकुल गिरीश ने दरवाजा खोल दिया और इसके साथ ही घर में शोर उठा – "माँ आयी हैं, माँ आयी हैं।" गिरीशचन्द्र भाव-विभोर हो उठे। उस समय भी भक्तों की पूजा तथा प्रणाम का विराम नहीं रहा। इस प्रकार नवमी और दशमी बीती। महापूजा सम्पन्न हुई। इधर भक्त-वत्सला माँ का शरीर तिल-तिल कर क्षय हो रहा था। वे भक्तों की ऐसी भीड़ की अभ्यस्त नहीं थीं। अत: उन्होंने कलकत्ते से विदा लेने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु उनकी इच्छा करते ही तो काम हो नहीं जायेगा! वे भक्तों की हैं और उन्हें भक्तों की सहमति चाहिए थी। यह सहमति पाने में भी कई दिन लग गये।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद

महेन्द्रनाथ गुप्त 'म'

(श्री महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' को १८८२ से १८८६ ई. के दौरान लगभग पाँच वर्षों तक श्रीरामकृष्ण का संग करने का सौभाग्य हुआ था। वे प्रति रविवार तथा छुट्टियों के दिन दक्षिणेश्वर जाते और वहाँ जो कुछ देखते-सुनते, उसे अपनी याददाश्त के लिये संक्षेप में लिखकर रख लेते। काफी काल बाद भक्तों के अनुरोध पर उन्होंने अपनी डायरी को क्रमश: विभिन्न पत्रिकाओं में और बाद में बँगला में 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत' नाम से पाँच भागों में प्रकाशित कराया। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) आदि शिष्यों ने वराहनगर मुहल्ले में एक टूटा-फूटा भवन किराये पर लेकर मठ स्थापित किया था। श्री 'म' बीच-बीच में वहाँ भी जाया करते थे और अपने त्यागी गुरुभाइयों की भी कुछ बातें अपनी दैनन्दिनी में लिख रखी थी। उपरोक्त ग्रन्थ के परिशिष्ट अंशों में ऐसे ९ दिनों के विवरण मिलते हैं। उनके अतिरिक्त भी उन्होंने ४ दिनों के विवरण लिखकर बँगला के 'नव्य-भारत' पत्रिका के १९०४ ई. के कुछ अंकों में प्रकाशित कराये थे। 'कथामृत' ग्रन्थ के अन्तिम पाँचवें भाग का मुद्रण पूरा होने के पूर्व ही श्री 'म' का देहावसान हो गया, सम्भवत: इसी कारण इन ४ दिनों का विवरण उक्त ग्रन्थ में संकलित नहीं हो सका। श्री सन्तोष कुमार दत्त ने उनकी खोज करके बँगला मासिक 'उद्बोधन' के २००० ई. के अक्तूबर और २००१ ई. के फरवरी तथा मार्च अंकों में पुनर्मुद्रित कराया। इनका अंग्रेजी अनुवाद 'प्रबुद्ध-भारत', के फरवरी २००६ अंक में प्रकाशित हुआ है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने – सं.)

प्रथम परिच्छेद

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) तथा उनके गुरुभाइयों का वैराग्य तथा साधनावस्था

२५ अगस्त १८८६ ई. बुधवार। १० दिन हुए ठाकुर रामकृष्ण भक्तों को छोड़कर स्वधाम चले गये हैं।

कलकत्ते के बोसपाड़ा में बलराम के मकान के बैठकखाने में नरेन्द्र आदि भक्तगण आये हुए हैं। ये लोग मानो मातृहीन बालक हो गये हैं। इन लोगों को देखकर ठाकुर के तिरोभाव से उत्पन्न शोक-सागर मानो हिलोरें लेने लगता है। सभी सोच रहे हैं – ठाकुर स्वधाम चले गये, अब हम लोग क्या करें? (युवा) भक्तों के लिये ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ कुछ लोग एक साथ मिलकर रह सकें। उनको प्रतिदिन अपने अपने घर जाना पड़ रहा है। टोली भंग होने के कगार पर पहुँच गयी है, क्योंकि हार की मणियों को एकत्र रखनेवाला धागा खुल गया है। अभी दस दिनों पूर्व ही वे अन्तर्धान हुए हैं। ये लोग निरन्तर यही सोच रहे हैं कि हम लोग कहाँ जायें और क्या करें! और एकान्त में बैठकर उन्हीं का चिन्तन और अश्रुपात करते रहते हैं।

नरेन्द्र, राखाल, काली, शरत्, शशी, तारक, गोपाल, भवनाथ, मास्टर आये हैं। बाद में निरंजन भी आये।

सभी नरेन्द्र के मुख की ओर देख रहे हैं। नरेन्द्र ने कुछ भाइयों को वृन्दावन भेजा है। भक्तों से रुपयों की व्यवस्था कर रहे हैं।

* * *

(नरेन्द्र तथा ठाकुर रामकृष्ण का आदेश – कामिनी-कांचन-त्याग)

नरेन्द्र अब कुछ गुरुभाइयों के साथ निकट स्थित गिरीश के घर जा रहे हैं। रास्ते में मास्टर के साथ बातें करते हुए जा रहे हैं।

नरेन्द्र – मास्टर महाशय, आप बाबूराम के लिये एक ओर का भाड़ा दे दीजिये।

मास्टर – ठीक है।

नरेन्द्र – अभी।

मास्टर – अभी?

उन्होंने जिन गुरुभाइयों को वृन्दावन भेजने का निश्चय किया है, उनमें बाबूराम भी एक हैं। भक्तगण गिरीश के बैठकखाने में जा पहुँचे। गिरीश से भी रुपयों की बात कही।

गिरीश – मेरे पास अभी उतना नहीं है। यदि १०-११ रुपये माँगो तो दे सकता हूँ। ये लोग वृन्दावन क्यों जा रहे हैं?

नरेन्द्र (गम्भीरता के साथ) – वे कामिनी-कांचन का त्याग करने को कह गये है।

एक भक्त – तुम भी जाओगे?

नरेन्द्र – हम सभी को निकल पड़ना चाहिये। परन्तु मेरा थोड़ा घर का काम है। मुकदमा अभी समाप्त नहीं हुआ है। (थोड़ा सोचकर) और मुकदमे का जो होना है हो। तत्त्व तो समझ में नहीं आया! फिर क्यों बेकार वह सब करना।

राखाल – और यहाँ रहने से ही संसार खींचता है।

नरेन्द्र के पिता का देहान्त हो चुका है और उनके छोटे-छोटे भाई-बहन हैं – दूसरा कोई उनका संरक्षक नहीं है और उनके भरण-पोषण का भी कोई उपाय नहीं है। नरेन्द्र ने बी. ए. पास किया है। इच्छा होने पर वे इन लोगों का भरण-पोषण कर सकते हैं। राखाल के घर पर उनके पिता, पत्नी और एक छोटा पुत्र है।

काँकुड़गाछी के उद्यान की बातें होने लगीं। उद्यान के लिये ट्रस्टियों की नियुक्ति होनेवाली है।

राखाल – नरेन्द्र को ट्रस्टी बना देने से हम सभी सन्तुष्ट हो जायेंगे।

नरेन्द्र – नहीं, नहीं, क्या होगा?

सभी लोग नरेन्द्र से अनुरोध करने लगे। तब उन्होंने गिरीश से कहा – "ठीक है, तो ऐसा ही कीजियेगा।" परन्तु नरेन्द्र नियुक्त नहीं हुए।

ठाकुर के लीला-संवरण से भक्तों का शोक

गिरीश के घर में मणि तथा एक अन्य भक्त के बीच बातें हो रही हैं। भक्त ने लम्बी साँस खींची। बोले – "उनसे अब अन्य कोई प्रार्थना नहीं करूँगा।"

मणि – किस विषय में नहीं करेंगे?

भक्त – नहीं, किसी भी विषय में अब प्रार्थना नहीं करूँगा। भक्ति के लिये भी नहीं; संसार के लिये भी नहीं।

यह कहकर भक्त ने फिर एक लम्बी साँस खींची।

भक्त – उन्होंने कहा था, उतना दूध क्यों दे रहे हो? वे लोग गृहस्थ हैं, भला कैसे दे सकेंगे? यह कष्ट मन से कभी न जायेगा।

काशीपुर के उद्यान में गृही भक्तगण ठाकुर की सेवा का खर्च दिया करते थे। ठाकुर का हमेशा इस ओर ध्यान रहता कि कहीं उन लोगों का अधिक खर्च न हो जाय।

भक्त – इच्छा थी कि एक डॉक्टर सर्वदा (उनके) पास रखने की व्यवस्था की जाय। परन्तु वह कर नहीं सका।

भक्त कुछ देर चुप रहे। इसके बाद कह रहे हैं – "अच्छा, उनका नाम जप कर क्या मैं अपनी पारिवारिक उन्नति की चेष्टा करूँ? मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे अच्छा कहें, धार्मिक कहें।"

द्वितीय परिच्छेद

बृहस्पतिवार, २ सितम्बर, १८८६ ई.।

शशी मास्टर के पास आये हैं। मास्टर ने कलकत्ते के गुरुप्रसाद चौधरी लेन के एक मकान के कमरे में अपने पढ़ने का अड्डा बना रखा है। उस कमरे में तख्त के ऊपर दोनों बैठे हुए हैं। शशी और शरत् अपने पटलडांगा के मकान में रहते हैं। आज शशी खूब स्वच्छ धोती, कुरता और चादर पहनकर आये हैं। हाथ में एक नया छाता है। दोनों ठाकुर के बारे में बातें करने लगे।

मास्टर – ठाकुर ने मुझसे कहा था कि इन लोगों में नरेन्द्र ही प्रधान है।

शशी – नरेन्द्र हम लोगों का नेता होगा – यह बात गुरु महाराज ने कही है, मुझे अच्छी तरह याद है।

मास्टर – और पढ़ने-लिखने के बारे में क्या कहा था, याद है?

शशी (हँसते हुए) – खूब याद है। एक दिन नरेन्द्र से कहा था – इन लोगों को पढ़ने-लिखने मत देना।

मास्टर – और काली को?

शशी – हाँ, कहा था। कहा था – तूने ही तो यहाँ पड़ना-लिखना घुसाया। मैंने फारसी पढ़ना आरम्भ किया था। फारसी पढ़ने के लिये मुझे डाँटा था।

इसके बाद शरत् के साथ बातें होने लगीं। ठाकुर रामकृष्ण के नाम का कब प्रचार होगा? पहले कौन प्रचार करेगा?

मास्टर – उनका भाव किसने समझा है! अच्छा, वैष्णव-चरण के ग्रन्थों के बारे में वे क्या कहते थे, याद आता है?

शरत् – हाँ, याद आ रहा है, उन्होंने कहा था – "वैष्णव -चरण मेरी सारी अवस्थाएँ समझता था।" मैंने सोचा था कि वे ही सबसे पहले प्रचार करेंगे।

नरेन्द्र – ... मुझसे उन्होंने कहा है – "ब्रह्मज्ञान ही ठीक है। यह (वैष्णवचरण) ही पहले प्रचार करेगा।" वह तो नहीं हुआ। केशव सेन ने पहले प्रचार किया।

तृतीय परिच्छेद

वराहनगर में ठाकुर रामकृष्ण का प्रथम मठ
भक्त सुरेन्द्र

१२ अक्तूबर १८८६ ई.।

लगभग दो महीने हुए वे स्वधाम चले गये हैं। भक्तों को स्नेह-सूत्र में बाँध गये हैं। अब उन लोगों की इच्छा होती है कि एक साथ रहकर दिन-रात उन्हीं का चिन्तन और उन्हीं के बारे में चर्चा करते रहें। दो-तीन भक्तों के लिये तो लौट जाने को घर भी नहीं है। सुरेन्द्र ने उन लोगों से कहा – "भाई, तुम लोगों के लिये रहने की जगह नहीं है और मेरे लिये भी शान्ति पाने को कोई स्थान नहीं है। चलो, वराहनगर में एक अड्डा बनाएँ। तुम लोग भी वहाँ रहना और बीच-बीच में हम लोग भी वहाँ आते रहेंगे।

सुरेन्द्र काशीपुर के उद्यान में ठाकुर की सेवा हेतु प्रतिमाह ५० रुपये दिया करते थे। वे बोले – भाई, ठाकुर की सेवा के लिये जो थोड़ा-बहुत देता था, वही इस मकान के खर्च के लिये दिया करूँगा।

क्रमश: नरेन्द्र आदि अविवाहित भक्तगण उस मठ में जाकर रहने लगे। वे लोग फिर संसार में नहीं लौटे। मठ के भाइयों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। सुरेन्द्र क्रमश: मठ के खर्च के लिये १०० रुपये मासिक तक देने लगे।

धन्य हो सुरेन्द्र! यह पहला मठ तुम्हारे ही हाथों गढ़ा गया। तुम्हारी सदिच्छा से ही यह आश्रम हुआ! ठाकुर रामकृष्ण ने तुम्हें यंत्र बनाकर कामिनी-कांचन-त्याग रूपी अपने मूलमंत्र को मूर्तिमान किया। सनातन हिन्दू धर्म को एक बार फिर वैराग्यवान शुद्धात्मा कुमार नरेन्द्र आदि के द्वारा

जीवों के सम्मुख प्रकट किया। तुम्हारा ऋण कौन चुकायेगा! मठ के भाई लोग मातृहीन बालकों के समान थे – तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे कि तुम कब आओगे! आज सारे रुपये मकान का किराया देने में चले गये, आज खाने को कुछ नहीं है – तुम कब आओगे और भाइयों के खाने की व्यवस्था करोगे। तुम्हारे सहज प्रेम को स्मरण करके किसकी आँखों में अश्रु न आ जायेंगे!

नरेन्द्र और ज्ञानयोग

वराहनगर मठ। मन्दिर के पूर्व की ओर के बरामदे में नरेन्द्र और मणि, चन्द्रमा की रोशनी में टहल रहे हैं। आज कोजागरी लक्ष्मीपूजा है। माह अक्तूबर, वर्ष १८८६। दोनों ठाकुर रामकृष्ण के बारे में बातें कर रहे हैं। ज्ञानयोग और भक्तियोग पर चर्चा चल रही है।

मणि – वे तो दोनों ही पथ कहा करते थे। दोनों मार्गों से एक ही स्थान पर पहुँचा जा सकता है। ज्ञान जहाँ ले जाता है, भक्ति भी वहीं ले जाती है।

नरेन्द्र – वह तो कहते ही थे, परन्तु एक बात आपसे कहता हूँ। बड़ी गोपनीय बात है। किसी को कहियेगा मत।

मणि – क्या है, कहो न।

नरेन्द्र – उन्होंने मुझसे कहा है – "ब्रह्मज्ञान ही ठीक है। भक्ति बाहर दिखाने की चीज है। हाथी के बाहरी दाँत और भीतरी दाँत; बाहर के दाँत शोभा के लिये हैं और भीतर के दाँत से काम होता है।"

मणि – भक्ति-पथ से जाने पर भी ब्रह्मज्ञान होता है, यह बात भी तो उन्होंने कही है। ज्ञानपथ से ब्रह्मज्ञान होता है और भक्तिपथ से भी तो होता है। और भी कहते थे, शायद तुम्हें याद हो, कोई-कोई ब्रह्मज्ञान के बाद भी भक्ति लेकर रहते हैं। "लीला से नित्य और नित्य से लीला।"

नरेन्द्र – उस दिन काशीपुर के उद्यान में उन्होंने ब्रह्मज्ञान की बात कही, उस दिन क्या आप थे?

मणि – मैं उस समय तो नहीं था। परन्तु सुना है कि काफी देर तक बात चली थी। शुकदेव के बारे में क्या बोले थे, क्या तुम्हें याद है?

नरेन्द्र – एक भी बात याद नहीं आ रही है।

मणि – "वही चीनी के पहाड़ की तुलना में शुकदेव बहुत हुआ तो एक बड़े चींटे हैं; शिव ने बहुत हुआ तो उस समुद्र का स्पर्श किया है या एक चुल्लू पान किया है।" शायद ये ही सब बातें हुई थीं।

नरेन्द्र – हाँ, ऐसी ही अनेक बातें हुई थीं।

नरेन्द्र का दर्शन और अहंत्याग

मठ के भाइयों के बारे में बातें होने लगीं।

मणि – अब तुम्हारे ऊपर ही सब निर्भर है। इन लोगों का सब तुम्हीं को देखना होगा।

नरेन्द्र – अहंकार होने से ही मुश्किल है। ह– के प्रति थोड़ी घृणा और डाँट-फटकार की थी। उन्होंने तत्काल क्या दिखाया, जानते हैं? वे मानो कह रहे थे – "तूने क्या समझ रखा है? जानता है, इन लोगों में से जो खूब छोटा है, उसे भी मैं सबसे बड़ा बना सकता हूँ, और जो सबसे बड़ा है उसे मैं छोटा बना सकता हूँ।* उनका वैसा दर्शन पाने के बाद से ही मैं सावधान हो गया हूँ। "The least shall be the greatest and the greatest least."

मणि – सो तो है। उनकी कृपा से ही उनकी प्राप्ति होती है। वे ही बड़ा भी करते हैं, वे ही छोटा भी करते हैं। उन्हें क्या अपनी शक्ति से पाया जा सकता है? उनकी कृपा चाहिये।

नरेन्द्र की ईश्वर-दर्शन के लिये व्याकुलता

नरेन्द्र भजन गाने लगे – मानो ईश्वर-प्राप्ति के विषय में उनकी आशा क्षीण हो चुकी है – (भावार्थ)

श्यामा-रूपी धन क्या सबको प्राप्त होता है?

(नरेन्द्र) पास के कमरे में जाकर बैठे। नरेन्द्र ने पूरा भजन गाया –

श्यामा-रूपी धन क्या सबको प्राप्त होता है?
यहाँ तक कि शिव के लिये भी
उन सुन्दर चरणों में मन लगाना असाध्य है;
पर मेरा अबोध मन समझाने से भी नहीं मानता,
अहा, कैसी कठिनाई है!
जो माँ का ध्यान करता है, उसके लिये
इन्द्र आदि की सुख-सम्पदाएँ भी तुच्छ हो जाती हैं
यदि वे श्यामा कृपा-कटाक्ष करती हैं,
तो व्यक्ति चिर आनन्द के सुख में तैरता है।
योगीन्द्र, मुनीन्द्र और देवराज इन्द्र
ध्यान करके भी जिन चरणों को नहीं पाते,
कवि कमलाकान्त सभी गुणों से हीन होकर भी
उन चरणों को पाने की आशा करता है।

नरेन्द्र एक अन्य कमरे में जाकर बैठे। नरेन्द्र क्या सोच रहे हैं? क्या उनके हृदय में सहसा ठाकुर रामकृष्ण की प्रेममूर्ति जाग उठी है? नरेन्द्र गाने लगे – (भावार्थ)

मेरा धर्म-कर्म सब चला गया,
परन्तु मेरी काली-पूजा नहीं हुई।
मैं किसी भी प्रकार मन को
उन (श्रीकृष्ण) से नहीं हटा पाती।
छी, छी, देखो न, कितनी परेशानी है,
जब मैं माँ के चरणों में पुष्पांजलि देने जाती हूँ,
तो हे सखी, मन में त्रिभंगी की मूर्ति उभर आती है

* तुलनीय – देवीसूक्त, ५

जब दिगम्बरी का दर्शन करने की चेष्टा करती हूँ
तो नेत्रों से पीताम्बर-धारी को देखती हूँ
जब मैं हाथ में खड्ग और गले में
नरमुण्ड-माला धारण करनेवाली का
चिन्तन करती हूँ,
तो होठों पर बाँसुरी लिये
वनमाली को देखती हूँ ।
तीन नेत्रोंवाली का ध्यान करते समय
बाँके नयनवाले को देखकर
हे सखी, मैं उदास हो जाती हूँ ।
यह क्या हुआ ! यह क्या छलना है !
क्या शिवानी काली मुझ पर नाराज हैं !

भजन के बाद थोड़ी देर चुप रहे । उसके बाद सहसा बोले – ''चलो, श्मशान चलें ।'' उसके बाद बोले – ''बाबा ! श्मशान नहीं, मानो बैठकखाना हो ।'' (सभी हँसते हैं)

मठ के पास ही परामाणिक घाट है । उस घाट के पास ही श्मशान है । श्मशान-भूमि चहारदीवारी से घिरा हुआ है । उसके पूर्व की ओर २-३ पक्के कमरे हैं । इसीलिये नरेन्द्र कह रहे हैं – मानो बैठकखाना हो । नरेन्द्र आदि भक्तगण रात में कभी-कभी साधना के लिये अकेले उसी श्मशान में जाकर रहते हैं ।

* * *

श्री माता ठाकुरानी इस समय वृन्दावन धाम में हैं । नरेन्द्र और मास्टर उनके बारे में बातें कर रहे हैं । काशीपुर के उद्यान में एक दिन भक्तों ने ठाकुर रामकृष्ण के समक्ष उनके प्रति श्रीमाँ के प्रेम का उल्लेख किया था । माँ उन दिनों ठाकुर की सेवा के लिये उसी उद्यान में निवास कर रही थीं । भक्तों ने ठाकुर से कहा था – इतनी महान् हृदयवाली उन लोगों ने कभी देखा नहीं ।

मास्टर – परमहंस महाशय क्या बोले?

नरेन्द्र – वे हँसने लगे और बोले – ''मेरी शक्ति है न, इसीलिये ऐसी है ।''

चतुर्थ परिच्छेद

नरेन्द्र और गीतोक्त धर्म

वराहनगर मठ । आज शुक्रवार, १७ फरवरी १८८७ ई. का दिन है । दोपहर के लगभग साढ़े बारह बजे होंगे । नरेन्द्र तथा मठ के अन्य भाई लोग हैं । हरमोहन तथा मास्टर आये हैं । शशी ठाकुर-सेवा में व्यस्त हैं ।

नरेन्द्र गंगास्नान करने जा रहे हैं ।

नरेन्द्र – गीता में जप-तप आदि की बात ही कही गयी है ।

मणि – क्यों? तो फिर अर्जुन को उपदेश क्यों दिया?

नरेन्द्र – गृहस्थी के कर्म के रूप में नहीं दिया ।

मणि – जब अर्जुन से युद्ध करने को कहा गया, और अर्जुन जब गृहस्थी में थे, इसलिये गृहस्थी के कर्मों को अनासक्त-भाव से करने को कहा गया है ।

बाद में नरेन्द्र ने कर्म के विषय में अपना यह मत परिवर्तित कर लिया था । अमेरिका में उन्होंने कर्मयोग के विषय में जो उपदेश दिये हैं, उसमें उन्होंने सांसारिक कर्मों को अनासक्त होकर करने को कहा है । जब उन्होंने नया-नया संन्यास लिया था, उन दिनों वे सांसारिक कर्मों के विषय में अत्यन्त विरक्त हो गये थे । इसीलिये उन्होंने गीता का उद्देश्य जप-तप आदि कर्म को ही कहा था ।

एक गृहस्थ भक्त मठ के एक भाई के साथ बातें कर रहे हैं । उनकी इच्छा मठ में रह जाने की है । मठ का विशुद्ध भाव देखकर वे मुग्ध हो गये हैं, संसार अब अच्छा नहीं लगता । वे लोग रसोईघर के दक्षिण की ओर के बरामदे में बैठकर बातें कर रहे हैं । उधर निरंजन रसोईघर में हैं ।

गृहस्थ भक्त – यदि मठ में रह जाऊँ, तो फिर क्या लोग परिवार की देखभाल न करने की शिकायत करेंगे?

मठ के भाई – नहीं, ऐसा क्यों होगा? आप यदि नौकरी करते हों, तो फिर चल सकता है ।

निरंजन (रसोईघर से) – अरे भाई, क्या कर रहे हो? क्या सलाह दे रहे हो? (सभी हँसते हैं)

नरेन्द्र गंगास्नान करके लौट आये । काली तपस्वी भी गंगास्नान कर आये । काली[१] उन दिनों सर्वदा वेदान्त-विचार किया करते थे । उन दिनों उनका 'मैं भक्त, तुम भगवान' – यह भाव नहीं था । सर्वदा विचार करते हैं – 'मैं' वही हूँ, मेरा नाम-रूप नहीं है । इसीलिये स्नान के बाद कमरे में आकर वेदान्त-वाक्य का उच्चारण करने लगे –

नामरूपव्यतीतमव्ययम् । अहम् अहम् ।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।

भक्तगण प्रसाद पाने बैठेंगे ।

मठ में केवल एक ही रसोइया ब्राह्मण हैं । नौकर नहीं है; भोजन के बाद प्रत्येक ने जूठे पत्ते को हाथ में लेकर फेंक दिया । मास्टर के जूठे पत्ते को नरेन्द्र ने अपने हाथ में लेकर फेंक दिया । मास्टर ने बहुत मना किया । नरेन्द्र ने कहा – ''यहाँ पर रिपब्लिक है ।''

दानवों के कमरे (बैठकखाने) में भक्तगण बैठे हुए हैं । पान खा रहे हैं और हुक्का पी रहे हैं ।

राखाल (म के प्रति) – एक दिन मैं आपके यहाँ आऊँगा । आप परमहंस महाशय के बारे में क्या लिख रहे हैं, उसे सुनने आऊँगा ।

---

१. स्वामी अभेदानन्द । इस समय वे न्यूयार्क में हैं ।

म – उसके बारे में सोचा है कि जीवन में परिवर्तन आये बिना किसी को नहीं बताऊँगा। उनकी बातें मंत्रों के तुल्य हैं। क्या उन्हें जीवन में परिणत करना अच्छा नहीं है?

राखाल – सो तो है। अच्छा, आपको गृहस्थी कैसी लगती है?

शशी[२] – अरे, राखाल भाषण दे रहा है।

राखाल (हँसते हुए म के प्रति) – पहले मेरी यहाँ आने की इच्छा नहीं हुई। परन्तु अब देखता हूँ कि इन लोगों का संग बड़ा अच्छा है।

अब नरेन्द्र हुक्का पीते हुए बोल रहे हैं।

नरेन्द्र – किस आदमी के भीतर सार-पदार्थ है? एक के अतिरिक्त सभी हेय हैं। (सम्भवत: उनका तात्पर्य श्रीरामकृष्ण से है)। बाकी सबको घृणापूर्वक ठुकरा देने की इच्छा होती है। किसमें अपनी खुद की शक्ति है? सभी परिस्थितियों के अधीन हैं। परिस्थितियों के दास हैं। लेकिन यह भी कहता हूँ कि सभी मेरे समान ही परिस्थितियों के दास हैं।

राखाल हँसते-हँसते फुसफुसाते हुए हरमोहन को सिखा रहे हैं – पूछो कि अमुक दादा कैसे हैं।

हरमोहन ने नरेन्द्र से पूछा – अमुक दादा कैसे हैं?

नरेन्द्र – कुत्ता है, हेय है। यदि साधु होगा, तो रुपये क्यों इकट्ठा कर रहा है? साधु के पास रुपये क्यों?

मठ के एक भाई – सभी तो कुत्ते हैं, वे भी एक जो हैं। लगता है कि वे बिचौलिये हैं।

नरेन्द्र – मैं तो कहता हूँ – मेरे समान कुत्ता। जो परिस्थितियों का दास है, वह कुत्ता नहीं तो क्या है? उसकी अपनी कुछ शक्ति है?

मास्टर (स्वगत में) – परिस्थितियाँ या ईश्वर? ठाकुर रामकृष्ण क्या कहते थे? 'राम की इच्छा'।

नरेन्द्र – जिसके पास रुपये हैं वह साधु कैसा? ऊपर से प्रवचन भी देना? धर्मप्रचार करता है! लज्जा नहीं आती?

नरेन्द्र और बुद्ध

हरमोहन – अच्छा, यदि किसी को भाव या समाधि हो, तो वह तो महान् व्यक्ति होगा!

नरेन्द्र – अरे, जाकर बुद्ध का अध्ययन करो! गीता कहो या शंकराचार्य। बुद्ध की जो प्रथम अवस्था है, वही शंकर की अन्तिम बात – निर्विकल्प समाधि है।

एक भक्त – निर्विकल्प समाधि यदि प्रथम अवस्था हो, तो उसके ऊपर भी तो कई अवस्थाएँ हैं? दो-एक कहो न। निश्चय ही बुद्ध कुछ बोल गये होंगे।

नरेन्द्र – कौन जाने।

२. स्वामी रामकृष्णानन्द – मद्रास मठ के प्रमुख। इन्होंने कॉलेज में बी.ए. तक की पढ़ाई की थी।

भक्त – निर्विकल्प समाधि यदि बुद्ध की प्रथम अवस्था हो, तो बाद में उन्होंने 'अहिंसा परमो धर्म:' – का प्रचार क्यों किया?

नरेन्द्र – यह समझ में नहीं आता। परन्तु वैष्णव लोगों ने बुद्ध से यह सीखा है।

भक्त – बुद्ध से अहिंसा सीखनी होगी, यह क्या बात है! ऐसा भी तो सुनने में आता है कि किसी से उपदेश न पाकर भी लोग अपने-आप मांस-मछली खाना छोड़ देते हैं। अत: वैष्णव लोगों ने बुद्ध से सुनकर ही जीवहिंसा का त्याग किया है, यह नहीं भी हो सकता है।

नरेन्द्र – यदि कोई बिना सुने या बिना उपदेश पाये त्याग करे, तो कहना होगा hereditary transmission (आनुवंशिक संक्रमण) अर्थात् पिता-पितामह से यह संस्कार मिला है।

भक्त – यदि ऐसा कहते हो, तो यूरोप में बहुत-से लोग जीवहिंसा त्याग देते हैं, इसका क्या अर्थ है? वे लोग तो गाय खानेवाली जाति हैं। उन लोगों ने तो बुद्ध से सीखा नहीं।

नरेन्द्र – परन्तु बुद्ध ने इसकी खोज की थी।

मास्टर (स्वगत) – वाह! केवल नरेन्द्र ही नहीं, ये सभी भक्त एक-एक वीर हैं। Independent thinker (स्वाधीन चिन्तक) हैं। क्यों नहीं होंगे? शिष्य किसके हैं! उन्होंने सबको अपने हाथ से गढ़कर तैयार किया है।

* * *

नरेन्द्र गीता पढ़ रहे हैं और भाइयों को समझा रहे हैं। वे निम्नलिखित दो श्लोकों की विशेष रूप से व्याख्या करने लगे और भक्तों के साथ उन पर विचार करने लगे –

कुर्वन् अपि न लिप्यते। (५/७)
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु ...। (५/९)

गीता के कुछ अंशों का पाठ करने के बाद वे बोले – "मैं चलता हूँ, तुम लोग मास्टर महाशय के साथ आनन्द करो।" परन्तु नरेन्द्र का जाना नहीं हुआ।

बाबूराम ने कहा – "मैं गीता-वीता इतना नहीं समझता। गुरु महाराज अच्छा कहते थे – 'त्यागी, त्यागी'।"

शशी – त्यागी, त्यागी का क्या अर्थ है, जानता है? मैं मानो मशीन हूँ, एक यंत्र हूँ – इसी को स्मरण रखना।

प्रसन्न एकान्त में गीता पढ़ने के लिये काली तपस्वी के कमरे में चले गये। शरत् उसी कमरे में निर्जन में दर्शन-शास्त्र – Luwi's History of Philosophy पढ़ रहे हैं। मठ के एक अन्य भाई मन्दिर में ध्यान करने लगे।

नरेन्द्र और ईश्वर का रूप-दर्शन

अब ईश्वर के रूप-दर्शन के विषय में चर्चा हो रही है।

नरेन्द्र – वह सब भूल है।

राखाल – क्यों, तुम्हें भी तो होता है ।

नरेन्द्र – वह सब मस्तिष्क की विकृत अवस्था के कारण होता है; Hallucination के जैसा । (सब हँसते हैं)

मणि – भाई, तुम चाहे जो कहो, जब उन्हें (ठाकुर को) रूप-दर्शन होते थे, तो इसे मस्तिष्क का विकार कैसे कहा जा सकता है? शिवनाथ ने कहा था – मानसिक रोग है, इस पर ठाकुर ने क्या कहा था, याद है न – "चैतन्य का चिन्तन करके क्या कोई अचैतन्य हो सकता है?"

* * *

नरेन्द्र आदि मठ के भ्रातागण पान खाने के लिये बरामदे में एकत्र हुए – कोई बैठे हैं, कोई खड़े हैं, कोई पान खा रहे हैं, कोई हुक्का पी रहे हैं। वसन्त ऋतु है – प्रकृति आनन्दमयी है । मठ के भाई लोग मानो सदानन्द व्यक्ति हैं। प्रथमत: तो कौमार वैराग्य, फिर दिन-रात ईश्वर-चिन्तन, और फिर उनके सम्मुख है एक महान् आदर्श – गुरुदेव ठाकुर रामकृष्ण । भाई लोग बीच-बीच में आनन्दपूर्वक – वाह गुरु की फतह । अर्थात् 'श्री गुरुदेव की जय' – सिख भक्तों का यह महामंत्र ॐकार के साथ समवेत स्वर में उच्चारण कर रहे हैं। नरेन्द्र ने ही उनको यह जयध्वनि सिखाई है ।

मास्टर ने शरत् को पकड़ा – इस जयध्वनि की लगातार सौ बार आवृत्ति करनी होगी । उन्हें सुनकर बड़ा आनन्द हुआ है ।

नरेन्द्र – यह सब क्या फरमाइश से होता है? स्वयं करके पकड़ा देना पड़ता है ।

बलराम ने अपने बोसपाड़ा के घर से मिठाइयाँ भेजी हैं। कचौड़ियाँ बड़ी स्वादिष्ट बनी हैं। भक्तगण एक साथ बैठकर उनका नाश्ता कर रहे हैं। एक भक्त थोड़ा अधिक खाने का प्रयास कर रहे हैं।

नरेन्द्र (भक्त के प्रति) – तू लोभी है ! अधिक खाने की चेष्टा कर रहा है ।

मठ में नरेन्द्र आदि ठाकुर-सेवा

संध्या हो गयी । शशी ने मन्दिर में धूना दिया और सुमधुर स्वर में नाम लेते हुए ठाकुर को प्रणाम किया। इसके बाद सभी कमरों में देवताओं के जितने भी चित्र थे, उनके सामने जाकर नामोच्चारण करते हुए प्रणाम किया और धूना दिया। मधुर कण्ठ से कहने लगे – श्रीगुरुदेवाय नमः, (काली के चित्र के पास जाकर) श्रीकालिकाय नमः, (षड्भुज महाप्रभु के पास जाकर) श्रीषड्भुजाय नमः, (राधाकृष्ण के चित्र के पास जाकर) श्रीराधावल्लभाय नमः (नित्यानन्द आदि भक्तों के चित्र के पास जाकर) श्रीअद्वैताय नमः, भक्तेभ्यो नमः; (यशोदा के पास गोपाल – चित्र के पास जाकर) श्रीगोपालाय नमः, श्रीयशोदायै नमः; (विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण – चित्र के पास जाकर) श्रीराम-लक्ष्मणभ्याम नमः, श्रीविश्वामित्राय नमः ।

बड़े गोपाल आरती कर रहे हैं । भक्तगण आरती देख रहे हैं। दालान में नरेन्द्र, मास्टर आदि हैं। मास्टर ने कहा – "नरेन्द्र बाबू, चलो जाकर आरती देखें।" नरेन्द्र बोले – "हाँ, चलिये।" परन्तु नरेन्द्र किसी कार्यवश आरती देखने नहीं जा सके ।

भक्तगण आरती करने के बाद स्तुति गाने लगे –

जय शिव ॐकारा, भज शिव ॐकारा ।

रात में भक्तगण एक साथ बैठकर अल्पाहार कर रहे हैं। प्रत्येक को कुछ रोटियाँ, एक सब्जी और थोड़ा-सा गुड़ मिला है। मास्टर भी साथ में बैठकर खा रहे हैं। बाबूराम परोस रहे हैं। मास्टर नरेन्द्र की बगल में बैठे हैं। उनके पत्तल में दो-एक जली हुई रोटियाँ पड़ गयी हैं, देखकर नरेन्द्र उन्हें अच्छी-अच्छी रोटियाँ उठाकर देने लगे। नरेन्द्र का सबकी ओर ध्यान है ।

रात में भक्तगण एक साथ बैठे हैं। मठ के एक भाई मास्टर से कह रहे हैं – "आजकल माँ के भजन ज्यादा नहीं होते । आप एक गाइये न । (कमलाकान्त-रचित) गुरु महाराजा का वह भजन – (भावार्थ) –

हे काली ! हे सुधा-तरंगिनी श्यामा,
कौन जाने, तुम कब, किस रंग में रहती हो !
तुम अपनी मौज-मस्ती और कटाक्षों से
कामदेव को भी शर्मिन्दा कर देती हो ।
हे खड्गधारिणी ! हे मुण्डमालिनी !
तुम्हारी उछल-कूद से पूरी पृथ्वी काँप उठती है ।
तुम (सत्त्व, रजस् और तमस्)
तीनों गुणों की आधार हो,
तीनों लोकों की स्वामिनी, तारनेवाली,
भयंकरी और कालरूप शिव की कामिनी हो !
भक्तों की कामना पूर्ण करने के लिये
तुम नाना रूप धारण करती हो,
हे पूर्ण-ब्रह्म-सनातनी !
कभी तुम कवि कमलाकान्त के
हृदय में भी निवास करती हो ।

राखाल मास्टर के साथ बातें करते हुए कह रहे हैं – "बीच-बीच में वाराणसी जाने की इच्छा होती है । कभी-कभी एकाकी भ्रमण करने की इच्छा होती है ।"

राखाल के घर में पिता, पत्नी और एक पुत्र है। भगवान के लिये वे सब कुछ त्याग कर आये हैं। इस समय उनमें तीव्र वैराग्य है । मन सर्वदा भगवान के लिये व्याकुल रहता है । इसीलिये एकाकी भ्रमण करने की इच्छा होती है ।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

विज्ञानान्द मार्ग, मुट्ठीगंज, इलाहबाद - २११ ००३

दूरभाष : ०५३२-२४१३३६९ फैक्स : ०५३२-२४१५२३५

ई-मेल : rkmsald @sancharnet.in

गुरु पूर्णिमा, २००६

अर्ध कुम्भ मेला शिविर २००७
एक अपील

प्रिय मित्र,

प्रयागराज का कुम्भ मेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है। इस समय यहाँ अर्ध कुम्भ मेला जनवरी-फरवरी २००७ में सम्पन्न होने जा रहा है। इस महान अवसर पर देश के सभी भागों एवं विदेश से एक सौ पच्चीस लाख से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधुओं के भाग लेने की आशा है। कल्पवासियों के अतिरिक्त साधुओं और तीर्थयात्रियों की चिकित्सीय देखभाल के लिये विशेष व्यवस्था करनी होगी। पहले के वर्षों की ही तरह, यह संस्था, एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को नि:शुल्क चिकित्सीय सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से मेला-भूमि पर नि:शुल्क एलोपैथिक और होम्योपैथिक क्लीनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र का शिविर खोलने का विचार कर रही है। इस कार्य में हमारी सहायता के लिये योग्य डाक्टरों, कम्पाउण्डरों, चिकित्सा में सहकारी कर्मचारियों और स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। तीन सौ तीर्थयात्रियों, दो सौ साधुओं तथा स्वयंसेवकों के लिये भोजन तथा आवास का प्रबन्ध भी करना होगा। शिविर में नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिये एक मन्दिर तथा सत्संग पण्डाल की भी व्यवस्था होगी। शिविर का अनुमानित खर्च चालीस लाख रुपये है। इसलिये सेवाश्रम उदारमना जनता से इस उत्तम लोकोपकारी कार्य में सहायता के लिये, जैसा कि उन्होंने पहले भी ऐच्छिक रूप से किया है, आन्तरिकता से अपील करता है। योगदान के रूप में प्राप्त आपका धन सधन्यवाद स्वीकार किया जाएगा।

चेक और ड्राफ्ट "A/c Payee only" से रेखित और ''रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद'' के नाम पर काटा जाना चाहिये और यदि रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाय, तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका

स्वामी त्यागात्मानन्द

सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट १९६१ की धारा ८०-जी के अधीन आयकर से मुक्त है।

२. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - ३ जनवरी (पौष पूर्णिमा), १४ जनवरी (मकर संक्रान्ति), १९ जनवरी (मौनी अमावस्या), २३ जनवरी (वसंत पंचमी) और २ फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें अग्रिम भुगतान के साथ एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन द्वारा अपना स्थान २० अक्टूबर २००६ तक आरक्षित करा लेना चाहिए। इस विषय में विस्तृत विवरण के लिये उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने का कष्ट करें।